ISSN : 2321-6581
जनवरी 2024 - जून - 2025
वर्ष : XIII, अङ्क - II & I
संयुक्ताङ्क - XXIII & XXIV

शोध नवनीत
SHODH NAVNEET

षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका

The Half Yearly International Peer-Reviewed Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी,
नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन

"Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge"

स्तुति प्राच्यविद्या समिति, गोण्डा (उ.प्र.)
STUTI PRACHYAVIDYA SAMITI, GONDA (U.P.)
अन्तर्जाल (Website) : www.shodhnavneet.com
अणुसंकेत (E-mail) : shodhnavneet@gmail.com
चलभाष (contact us) : +91-7800193920

जूलाई 2024 - जून 2025 ISSN : 2321-6581
वर्ष : XIII, अङ्क - II & I, संयुक्ताङ्क - XXIII & XXIV

शोध नवनीत

SHODH NAVNEET

(षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका)

The Half Yearly International Peer-Reviewed (Refereed)
Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी, नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन
Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge.

प्रधान सम्पादक :
डॉ. अवधेश प्रताप सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सम्पादक :
डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर-संस्कृत, गौतमबुद्ध राजकीय महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)

सह-सम्पादक :
डॉ. आशुतोष पारीक
असिस्टेंट प्रोफेसर, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय अजमेर, राजस्थान
डॉ. सुनील कुमार शर्मा
सहायक आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली

स्तुति प्राच्यविद्या समिति
51- जबर नगर, पो. परास,
जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - **271403**
अन्तर्जाल (Website) : www.shodhnavneet.com
अणुसंकेत (E-mail) : shodhnavneet@gmail.com
चलभाष (contact us) : +91-7800193920

- **प्रबन्ध सम्पादक**
  डॉ. अनुराधा शुक्ला

- **विधिक सलाहकार**
  श्री सतीश कुमार मिश्र
  एडवोकेट, चैम्बर नम्बर 18 ए, हाईकोर्ट, प्रयागराज – 211 002

- **शोध नवनीत**
- **Shodh Navneet (International Peer-Reviewed (Refereed) Research Journal)**
- **ISSN : 2321-6581**
- **वर्ष : XIII, अङ्क : II & I, संयुक्ताङ्क : XXIII & XXIV, जुलाई 2024 – जून 2025**

© प्रकाशक द्वारा सभी अधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक
  स्तुति प्राच्यविद्या समिति (Reg. No. - 1137/2013-14)
  म० सं० 51, जबर नगर, पो० परास
  जिला – गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत – 271403
- सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920
- अणु-सङ्केत : **shodhnavneet@gmail.com**
- बेबसाइट : **www.shodhnavneet.com**
- सहयोग राशि (Subscription) : प्रति अङ्क **₹ 150**
  Soft Copy : Free by E-mail or Free Download from- www.shodhnavneet.com
- **D.D. 'Stuti Prachyavidya Samiti' Payable at 'Gonda'** के पक्ष में होना चाहिए।

- मुद्रित :
  प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स
  30/21, यूनिवर्सिटी रोड, प्रयागराज – 211 002

नोट : शोधपत्र/शोधलेख के प्रति सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसके आलेखकों का होगा तथा लेखकों के मत से सम्पादक, सम्पादक मण्डल आदि का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति आदि द्वारा चयनित शोधपत्रों को निःशुल्क प्रकाशित प्रदान किया जाएगा। शोध नवनीत से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद होगा। ₹ 1500 सहयोग राशि का भुगतान करके 'शोध नवनीत' शोध पत्रिका का वार्षिक सदस्य बना जा सकता है। सदस्य बनने पर सदस्यता प्रमाण-पत्र के साथ पत्रिका का वार्षिक दो अङ्क प्रदान किया जायेगा। प्रत्येक वर्ष जनवरी-जून अङ्क का प्रकाशन जुलाई माह के प्रथम सप्ताह में एवं जुलाई-दिसम्बर अङ्क का प्रकाशन जनवरी माह के प्रथम सप्ताह में किया जायेगा।

मुख्य संरक्षक (Chief Patrons)

- **प्रो. राम सेवक दुबे**

  कुलपति, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
- **प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय**

  पूर्व कुलपति, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- **प्रो. के. रविशङ्कर मेनोन**

  पूर्व-कुलसचिव एवं संकायप्रमुख शिक्षाविभाग,

  राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मा. वि.), तिरुपति (आ.प्र.)
- **प्रो. राम किशोर शास्त्री**

  पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. सत्यप्रकाश दुबे**

  आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर, राजस्थान
- **प्रो. जि.एस. कृष्णमूर्ति**

  संकाय प्रमुख, साहित्य विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति

सम्पादक मण्डल (Editorial Board)

- **प्रो. उमेश प्रसाद सिंह**

  पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- **प्रो. रंजन त्रिपाठी**

  संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. विजय कुमार शर्मा**

  वेद विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
- **प्रो. सत्यपाल तिवारी**

  हिन्दी विभाग, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह**

  सह-आचार्य, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
- **डॉ. गीता शुक्ला**

  एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभागाध्यक्ष

  भगवानदीन आर्यकन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुरखीरा (उ.प्र.)
- **डॉ. शैलेन्द्र कुमार साहू**

  सहायक आचार्य, साहित्य विभाग,

  संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

- **डॉ. बबलू पाल**

  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

  महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार

- **डॉ. नरेन्द्र कुमार पाण्डेय**

  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

  हिमांचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धौलाधार परिसर-१, धर्मशाला, हिमांचल प्रदेश

- **डॉ. आभा द्विवेदी**

  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

  सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर

- **डॉ. राजीव रंजन**

  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

- **डॉ. विवेक शर्मा**

  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

  हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश

- **डॉ. देवराज**

  सहायक आचार्य, संस्कृत इक्डोल,

  हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला, हिमाचल प्रदेश

- **डॉ. हरिपद महापात्र**

  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

  साँकराइल अनिल विश्वास स्मृति महाविद्यालय झाडग्राम, पश्चिम बंगाल

- **डॉ. प्रताप चन्द्र राय**

  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

  सिधो-कानहो वीरसा विश्वविद्यालय पुरुलिया, पश्चिम बंगाल

- **डॉ. रवि प्रभात**

  सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

  महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

- **डॉ. शैलेन्द्र कुमार मिश्र**

  असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- **डॉ. विशाल श्रीवास्तव**

  असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)

- **डॉ. अमित कुमार मिश्र**

  विभागाध्यक्ष, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग,

  जी.एन.एस. विश्वविद्यालय, जमुहार, सासाराम, विहार

- **श्री आदित्य प्रताप सिंह**

  असिस्टेंट प्रोफेसर, शारीरिक शिक्षा विभाग,

  राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)

- **डॉ. रजनीश शर्मा**

  प्राचार्य, कंचन देवी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय

  एवं कंचन देवी कॉलेज ऑफ कम्प्यूटर साइंस भीलवाड़ा, राजस्थान

- **डॉ. परमेश कुमार शर्मा**

  सहायक आचार्य–शिक्षाशास्त्र विभाग,

  श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली

समीक्षक समिति / निर्णायक मण्डल
(Review Committee/Referees Board)

- **प्रो. पी. के. साहू**

  पूर्व–आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- **प्रो. ई. एम. राजन**

  केन्द्रीय संस्कृतविश्वविद्यालयः, गुरुवायूर–परिसरः, तृश्शुर, केरलम्

- **प्रो. सुशील कुमार शर्मा**

  पूर्व–आचार्य, अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- **प्रो. उमाकान्त यादव**

  पूर्व–आचार्य, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- **प्रो. आमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायन**

  वेद विभाग, वाल्मीकि विद्यापीठ, काठमाण्डू, नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल

- **डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी**

  एसो. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, देश बन्धु डिग्री कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

- **प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित**

  संस्कृत विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म कॉलेज, नवाबगंज, कानपुर (उ.प्र.)

- **प्रो. अमूल्य कुमार सिंह**

  प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, का. सु. साकेत महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)

- **डॉ. राजीव सिन्हा**

  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, श्रीकृष्ण महाविद्यालय,

  नदीया (कल्याणी विश्वविद्यालय), पश्चिम बंगाल

- **डॉ. सुदेव**

  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पाँच मुड़ा विश्वविद्यालय, बाँकुड़ा, पश्चिम बंगाल

- **डॉ. उमाकान्त प्रसाद**

  असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, पश्चिम बंगाल

परामर्शदात्री समिति (Advisory Committee)

- **डॉ. जी. गङ्गाधरन नायर**
  पूर्व डीन एवं प्रोफेसर, संस्कृत व्याकरण विभाग,
  श्री शङ्कराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी, केरल
- **प्रो. ए. पी. सच्चिदानन्द**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), राजीव गाँधी परिसर शृङ्गेरी , कर्नाटक
- **प्रो. लक्ष्मीनिवास पाण्डेय**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), वेदव्यास परिसर बलहार, हिमाचल प्रदेश
- **प्रो. सुकान्त सेनापति**
  परीक्षा नियन्त्रक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. मनोज कुमार मिश्र**
  विभागाध्यक्ष, वेद विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. सुरेश चन्द्र दुबे**
  पूर्व-आचार्य, अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग,
  इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **श्रीमती प्रियंवदा काफ्ले**
  एसो. प्रोफेसर, इतिहास पुराण विभाग (वाल्मीकि विद्यापीठ),
  नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ. विजय शङ्कर द्विवेदी**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. शिव कुमार मिश्र**
  प्रधानाचार्य, राजकरन वैदिक इण्टर कॉलेज, अयोध्या (उ.प्र.)

नोट : शोधपत्र/शोधलेख का प्रकृति के अनुसार सम्पादक मण्डल एवं समीक्षक समिति में अन्य विषय विशेषज्ञों का सहयोग लिया जा सकता है। शोधपत्र दो या दो से अधिक विशेषज्ञों की समीक्षा के अनन्तर ही प्रकाशित किया जाएगा।

सम्पादकीय (Editorial)

मानवीय संवेदना के विविध पक्षों के माध्यम से अनुस्यूत एवं ईश्वर प्रदत्त भारतीय ज्ञान परम्परा सृष्टि के प्रारम्भ से ही अपनी महत्ता को बनाये हुए है। भारतीय ज्ञान परम्परा में प्राचीनकाल से ही जीवन के विविध पक्षों पर चिन्तन-मनन अनवरत् जारी था। इस परम्परा में हम सृष्टि, सृष्टि प्रक्रिया, ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा के साथ-साथ मानवीय जीवन के विविध पक्ष यथा - ज्ञान-विज्ञान, चिकित्सा, खगोलशास्त्र, वास्तुशास्त्र, कला, संगीत, काव्य-काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, व्याकरण, शिक्षा, मानवीय मूल्य, पर्यावरण संरक्षण आदि के सृजन, चिन्तन और इनके विस्तार में हमारे मनीषी अग्रसर रहे हैं। भारतीय ऋषियों एवं विद्वानों का चिन्तन केवल भारतीयों के लिए न होकर अपितु मानव कल्याण एवं वैश्विक जगत् के लिए था। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानती है। इसी को व्यक्त करते हुए ऋषि कहता है -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेद्॥

भारतीय ज्ञान परम्परा नित्य अपने चिन्तन और शोध के द्वारा नवीन ज्ञान का सृजन एवं मूल्याङ्कन में निर्मग्न रही है। जिसका विपुल भण्डार भारतीय वैदिक वाङ्मय एवं लौकिक वाङ्मय में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ वेद, पुराण, स्मृतिग्रन्थ, दार्शनिकग्रन्थ, काव्य, नाट्य, गद्य, संगीत, व्याकरण, भाषा आदि का सूक्ष्म चिन्तन भारतीय शोध परम्परा का प्रकर्ष है। ऋषियों एवं कवियों ने सरस (सहज) भावाभिव्यक्ति में मानवीय मूल्यों की स्थापना पर बल दिया है। इसी क्रम में हमारा प्रयास है कि अपने प्राचीन ज्ञान की समीक्षा करते हुए उसको और अधिक जनोपयोगी एवं सर्वग्राह्य बनाया जाए, जिससे मोह-माया, भ्रष्टाचार की ओर अग्रसर होते वैश्विक जगत् को नवीन दिशा दी जा सके और लोगों में त्याग और मानवीय मूल्यों की स्थापना की जा सके।

'शोध नवनीत' शोध पत्रिका निरन्तर एक दशक से प्रकाशित हो रही है। इसका यह 23वाँ एवं 24वाँ संयुक्ताङ्क (जुलाई 2024 से जून 2025) आप सभी विद्वानों को समर्पित है। इस अङ्क में वैदिक, लौकिक साहित्य एवं मानविकी से संबन्धित समाचीन विचारों के साथ विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक विषयों को समाहित करने वाले संस्कृत हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा के चयनित शोधलेखों का संकलन किया गया है। यह आलेख अपने विषय के प्रतिपादन के साथ ही नवीन शोध के प्रेरक भी हैं। अतः इनका पठन, मनन आदि शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपादेय है। प्राच्यज्ञान को संरक्षित एवं प्रकाशित करने वाली वर्तमान शोध को वैश्विक पटल पर ले जाने के लिए अनवरत प्रयत्नशील यह पत्रिका आपके सफल अनुसन्धान की सहगामिनी और प्रेरिका के रूप में सदैव आपके साथ है। **'चरैवेति चरैवेति'** इस परम्परा का सम्यक् निर्वाह के लिए अपने 'शोध-नवनीत' के सुधी पाठकों/लेखकों एवं सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

सादर।

प्रधान सम्पादक/सम्पादक

विषयानुक्रमणिका
(CONTENTS)

- **शङ्करभगवत्पादानां भाष्यानुसारं आद्यषट्कगीतातत्त्वम्** 01
  डॉ. भजहरि दासः
- **पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में परिभाषाओं की उपयोगिता** 05
  डॉ. सम्राट कंकाळ
- **अद्वैतवेदान्त में आत्मतत्त्व की सिद्धि : श्रुति युक्ति एवं अनुभव के आधार** 16
  डॉ. कपिल गौतम
- **आचार्यरामाशीषपाण्डेयविरचितशिखाबन्धननाटकस्य समीक्षणम्** 24
  मधुमिता दासः
- **उपनिषत्साहित्ये मानवतावादः** 29
  Moumita Mondal
- **महाभारते मोक्षः** 35
  खेमराजः
- **महाकवि-अभिनन्दविरचितरामचरितमहाकाव्ये श्रीरामचरितम् एकमध्ययनम्** 53
  शाश्वती प्रधानः
- **श्रीमद्भगवद्गीतारीत्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां समीक्षणम्** 57
  अलोकबेपारी
- **चलदूरवाणीखण्डकाव्ये रामायणस्य प्रभावः** 64
  तन्मयविश्वासः
- **शुक्रनीति में वर्णित वृक्षारोपण एवं पर्यावरण संरक्षण** 68
  डॉ. नरेन्द्र कुमार पाण्डेय, रामकिशन
- **आचार्य शंकर का भाषा दर्शन** 75
  जितेन्द्र कुमार शर्मा, डॉ. कपिल गौतम
- **कालिदास के रूपकों में भारतवर्ष** 83
  डॉ. नीमा जोशी

- **महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य का वैशिष्ट्य** **89**
  प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित
- **गद्य-सम्राट पं. अंबिकादत्त व्यास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व** **95**
  डॉ. मनीलता पचानौत
- **महाभारतकालीन समाज : एक अध्ययन** **102**
  शशी शर्मा
- **वायु प्रदूषण के वैदिक समाधान** **108**
  डॉ. अमित शर्मा
- **स्मृति ग्रन्थों में वर्णित राजाओं का न्यायिक विधान** **113**
  डॉ. वैशाली चतुर्वेदी
- **Bhagavadgita: a study of the human mind and personality development** **117**
  Dr. Haripada Mahapatra
- **संस्कृत कथा साहित्य में शैक्षिक चिन्तन** **125**
  (पञ्चतन्त्र एवं हितोपदेश के विशेष सन्दर्भ में)
  उमाशंकर सोनी
- **विकसित भारत के निर्माण में संस्कृत साहित्य की भूमिका** **135**
  डॉ. शैलेन्द्र कुमार साहू
- **श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग का माहात्म्य** **142**
  डॉ. दीप्ति वाजपेयी
- **विभिन्न भारतीय मतानुसार मन्त्रों का वर्गीकरण** **150**
  स्वर्ण लता शर्मा
- **भारतीय संस्कृति में नारी का मानवशास्त्रीय विश्लेषण** **155**
  डॉ. वर्षा खण्डेलवाल
- **श्रीमद्भागवत पुराण में सामाजिक जीवन दिग्दर्शन** **163**
  डॉ. अंजलि उपाध्याय, शिवानी त्यागी

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

शङ्करभगवत्पादानां भाष्यानुसारं आद्यषट्कगीतातत्त्वम्

डॉ. भजहरि दासः*

इह खलु जगति सर्वोऽपि जन्तुः सुखं मे स्यात् दुःखं मनागपि मा भूत् इति अनिशं चिन्तयन् कर्मसु प्रवर्तते। परम् अयं जीवः अविद्यावशात् कामक्रोधादिभिः आवृतस्सन् स्वाभीष्टं फलं नैव लभते ततश्च दुःखमनुभवति। तस्मात् अविद्यानिवृत्तिपूर्वकं निरतिशयानन्दावाप्तये सुलभोपायान् दर्शयितुं वेदान्तदर्शने प्रस्थानत्रयान्तर्गता श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमन्महाभारते अर्जुनं निमित्तीकृत्य समस्तगोपीजनवल्लभस्य अखिलाण्डकोटिब्रह्माण्डनायकस्य भगवतः वासुदेवस्य मुखारविन्दात् विनिःसृता इति मनीषिणां मतम्।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैःशास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।[१]

साक्षात् श्रीकृष्णपरमात्मनः मुखारविन्दात् आविर्भूता गीता एकैव पर्याप्ता मानवजीवनस्य विकासाय साफल्याय इति च भावः। श्रीमद्भगवद्गीताया उपरि बहुभिः पण्डितैः स्वतन्त्रतया टीकाव्याख्यानानि रचितानि। तेषु श्रीमच्छङ्करभगवदपादः अन्यतमम्। भगवत्पादैः श्रीशङ्कराचार्यैः उक्तं गीताभाष्ये तदिदं **गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतम्**[२] इति। इतोऽपि तेन उक्तम् – स भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मः ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणः च। जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिः च श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्टीयमानः। दीर्घेण कालेन अनुष्ठातृणां कामोद्भवाद् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः भौमस्य ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवात् अंशेन कृष्णः किल सम्बभूवः। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानाम् ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्षते। स्वप्रयोजनाभावे अपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयम् अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश, गुणाधिकैः हि गृहितः अनुष्ठीयमानः च

* सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, हिमाचलप्रदेशकेन्द्रीयविश्वविद्यालय, धर्मशाला, कांगड़ा, हिमाचलप्रदेशः

धर्मः प्रचयं गमिष्यति इति। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैः उपनिबद्ध।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं इत्यारभ्य न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह[३] इति एतदन्तः प्राणिनां शोकमोहादिसंसारबीजभूतदोषोद्भवकारणप्रदर्शनार्थत्वेन व्याख्येयो ग्रन्थः। तथा हि अर्जुनेन राज्यगुरुपुत्रमित्रसुहृत्स्वजनसम्बन्धिबांधवेषु "अहम् एषां मम एते" इति एवं भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्तस्नेहविच्छेदादिनिमित्तौ आत्मनः शोकमोहौ प्रदर्शितौ **कथं भीष्ममहं संख्ये**[४] इत्यादिना। शोकमोहाभ्यां हि अभिभूतविवेकज्ञानः स्वत एव क्षात्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तः अपि तस्मात् युद्धाद् उपरराम। परधर्मं च भिक्षाजीवनादिकं कर्तुं प्रववृते। तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसां स्वभावत एव स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्।

अशोच्यान्।[५] इत्यादिना ग्रन्थेन भगवता यावत् **स्वधर्ममपि चावेक्ष्य**[६] इति एतदन्तेन ग्रन्थेन यत् परमार्थात्मतत्त्वनिरूपणं कृतं तत् साङ्ख्यम्। तद्विषया बुद्धिः आत्मनो जन्मादिषड्विक्रियाभावाद् अकर्ता आत्मा इति प्रकरणार्थनिरूपणाद् या जायते सा सांख्यबुद्धिः। सा येषां ज्ञानिनाम् उचिता भवति ते सांख्याः। एतस्या बुद्धेः जन्मनः प्राग् आत्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वात् अपेक्षो धर्माधर्मविवेकपूर्वको मोक्षसाधनानुष्ठानलक्षणो योगः, तद्विषया बुद्धिः योगबुद्धिः। सा येषां कर्मिणाम् उचिता भवति ते योगिनः। तथा च भगवता विभक्ते द्वे बुद्धी निर्दिष्टे एषा तेऽभिहिता **सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु**[७] इति। तयोः च सांख्यबुद्ध्याश्रयां ज्ञानयोगेन निष्ठां सांख्यानां विभक्तां वक्ष्यति पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता इति। तथा च योगबुद्ध्याश्रयां कर्मयोगेन निष्ठां विभक्तां वक्ष्यति **कर्मयोगेण योगिनाम्**[८] इति। एवं सांख्यबुद्धिं योगबुद्धिं च आश्रित्य द्वे निष्ठे विभक्ते भगवता एव उक्ते ज्ञानकर्मणोः कर्तृत्वाकर्तृत्व एकत्वानेकत्व बुद्ध्याश्रययोः युगपदेकपुरुषाश्रयत्व असम्भवं पश्यता।

शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूते द्वे बुद्धिः भगवता निर्दिष्टे सांख्ये बुद्धिर्योगे बुद्धिरिति च। तत्र **प्रजहाति यदा कामान्**[९] इत्यारभ्य अध्यायपरिसमाप्तेः सांख्यबुद्ध्याश्रितानां संन्यासं कर्तव्यमुक्त्वा तेषां तन्निष्ठयैव च कृतार्थतोक्ता **एषा ब्राह्मी स्थितिः**[१०] इति। अर्जुनाय च –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[११]

इति कर्मैव कर्तव्यमुक्तवान् योगबुद्धिमाश्रित्य, न तत एव श्रेयःप्राप्तिमुक्तवान्। तदेतदालक्ष्य पर्याकुलीभूतबुद्धिरर्जुन उवाच– कथं भक्ताय श्रेयोऽर्थिने यत्साक्षाच्छ्रेयःप्राप्तिसाधनं सांख्यबुद्धिनिष्ठां श्रावयित्वा मां कर्मणि दृष्टानेकानर्थयुक्ते पारंपर्येणाप्यनैकान्तिकश्रेयःप्राप्तिफले नियुंज्यादिति युक्तः पर्याकुलीभावोऽर्जुनस्य, तदनुरूपश्च प्रश्नो–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिजनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।[१२]

इत्यादि प्रश्नापाकरणवाक्यं च भगवतोक्तं यथोक्तविभागविषये शास्त्रे।

यः अयं योगः अध्यायद्वयेनोक्तो ज्ञाननिष्ठालक्षणः संन्यासः कर्मयोगोपायो यस्मिन्वेदार्थः परिसमाप्तः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च, गीतासु च सर्वासु अयमेव योगो विवक्षितो भगवता। किं पुनस्तत्त्वं कर्मादेर्बोद्धव्यमित्याहः भगवान् –

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
सबुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।[१३]
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।[१४]
शारीरं केवल कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।[१५]
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।[१६]
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।[१७]
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।[१८]
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।[१९]
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।[२०]
योगसंन्यस्तकर्माणां ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।।[२१]

इत्येतैर्वचनैः सर्वकर्मसंन्यासमवोचद्भगवान्।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।[२२]

इत्यनेन वचनेन योगं च कर्मानुष्ठानलक्षणमनुतिष्ठेत्युक्तवान्। तयोरुभयोश्च कर्मानुष्ठानकर्म-संन्यासयोः स्थितिगतिवत्परस्पराविरोधादेकेन सह कर्तुमशक्यत्वात् कालभेदेन चानुष्ठानविधानाभावादर्थादेतयोरन्यतरकर्तव्यताप्राप्तौ सत्यां यत्प्रशस्यतरमेतयोः कर्मानुष्ठानकर्म-संन्यासयोस्तत्कर्तव्यं नेतरदित्येवं मन्यमानः प्रशस्यतरबुभुत्सया अर्जुन उवाच- **संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।**[२३] इत्यादिना।

अतीतानन्तराध्यायान्ते ध्यानयोगस्य सम्यग्दर्शनं प्रति अन्तरङ्गस्य सूत्रभूताः श्लोकाः-

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।[२४]

इत्यादय उपदिष्टाः। तेषां वृत्तिस्थानीयोऽयं षष्ठोऽध्याय आरभ्यते इति। एवमियं भगवती अष्टादशाध्यायी-

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायः फलं प्राप्तेः तथा प्राप्तेः विरोधि च।।

इति शास्त्रप्रतिपाद्यं यत् समग्रं तत्त्वमस्ति तत्सर्वं प्रतिपादयतीत्यत्र नास्ति संशीतिलेशः।

सन्दर्भाः

१. गीतामाहात्म्यम्– ४
२. गीताशाङ्करभाष्योपक्रमणिका।
३. श्रीमद्भगवद्गीता, २.१
४. तदेव, २.४
५. तदेव, २.११
६. तदेव, २.३१
७. तदेव, ३.३९
८. तदेव, ३.३
९. तदेव, २.५५
१०. तदेव, २.७२
११. तदेव, २.४७
१२. तदेव, ३.१
१३. तदेव, ४.१८
१४. तदेव, ४.१९
१५. तदेव, ४.२१
१६. तदेव, ४.२२
१७. तदेव, ४.२४
१८. तदेव, ४.३२
१९. तदेव, ४.३३
२०. तदेव, ४.३७
२१. तदेव, ४.४१
२२. तदेव, ४.४२
२३. तदेव, ५.१
२४. तदेव, ५.२७

सन्दर्भग्रन्थसूची

- श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुरम्।
- श्रीमद्भगवद्गीता, (षट्टीकोपेतम्), वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणसीकर, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठानम्, वाराणसी, पुनः मुद्रणम् २००९
- श्रीमद्भगवद्गीता, (शाङ्करभाष्यसहितम्), गीताप्रेस, गोरखपुरम्।
- ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुरम्।

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में परिभाषाओं की उपयोगिता

डॉ. सम्राट कंकाळ*

व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में परिभाषाओं का विशेष महत्त्व है। परिभाषाएँ प्रारम्भ से ही व्याकरणशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। परिभाषाएँ व्याकरण को दोष रहित व परिपूर्ण बनाती है। परिभाषाएँ अनियम के प्रसङ्ग में नियम का विधान करती है। '**अनियमे नियमकारिणी**' तथा जो भाषा या कथन सब ओर से व्याप्त हो तथा जो समाधान हेतु सभी जगह प्रयोग में आता हो उसे परिभाषा कहते हैं। '**परितो व्याप्तां भाषां परिभाषा प्रचक्षते**' परिभाषा किसी एकदेश में स्थित सभी शास्त्रों को प्रकाशित करती है। जैसे- दीपक, अच्छी प्रकार जलने पर सम्पूर्ण भवन को प्रकाशित करता है वैसे ही परिभाषाएँ व्याकरणशास्त्ररूपी भवन को प्रकाशित करती हैं। जिस प्रकार दीपक के अंदर विद्यमान प्रभा गृह का प्रकाशक होता है उसी प्रकार अपने ज्ञान के द्वारा परिभाषाशास्त्र सर्वशास्त्रों का उपकारक होता है। '**कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथाप्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्ववेश्माभिज्वलयतीति।**'[१] इस कारण परिभाषाओं का महत्त्व व्याकरणाचार्यों ने आरम्भ से ही स्वीकार किया है और उत्तरोत्तर परिभाषाओं पर कार्य किए हैं। जिस कारण व्याकरण का परिभाषा पाठ अपने आप में एक विशाल शास्त्र बन गया है। के. वी. अभ्यंकर के मतानुसार आचार्य नागेश से पूर्व १५ परिभाषा पाठ या वृत्ति ग्रन्थ लिखे गए तथा नागेशभट्ट के परिभाषेन्दुशेखर के अनन्तर एकमात्र वृत्ति ग्रन्थ जो शेषाद्रिसुधी विरचित '**परिभाषाभास्कर**' है। अतः परिभाषा साहित्य नागेश के पूर्ववर्ती परिभाषा ग्रन्थ तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों से विस्तृत होता है।

व्याकरणशास्त्र में सूत्रों के छः लक्षण उद्धृत किये गए हैं। जिनका व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि अष्टाध्यायी में संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार के सन्दर्भ में छह प्रकार के सूत्र पढ़े गए हैं।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्।।

जिस प्रकार विधिनियमादि सूत्रों का एक विशिष्ट स्थान है उसी प्रकार परिभाषा सूत्रों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिभाषाएँ व्याकरण को पूर्णता प्रदान करती है तथा दोष रहित करती हैं। अतः व्याकरणशास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिए परिभाषाओं का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। प्रायः

* सहाय्यक प्राध्यापक-संस्कृत, के.जी. मित्तल आयुर्वेदिक कॉलेज, मुंबई।

पाणिनीय सूत्र ग्रन्थों में भी परिभाषा सूत्रों की रचना प्राप्त होती है। वार्तिककार सूत्रों का नियमन व अनुपत्ति को दर्शाते हुए परिभाषा के प्रसङ्ग में बहुत सारे नियमों का विधान करते हैं।

महाभाष्यकार ने एकसूत्र से सम्बन्धित अर्थबोध को परिभाषा सूत्र के रूप में स्वीकार किया। भाष्यकार का मत परिभाषा के सन्दर्भ में परिभाषा सूत्रार्थ प्रकाशक है तथा सूत्र के अर्थ का प्रकाशन करने के लिए परिभाषा सूत्र सहायक सिद्ध होते हैं। वैसे तो सर्वप्रथम पाणिनीय सूत्रों में परिभाषा सूत्र अन्तर्निहित है। तत्पश्चात् वार्तिककार के वार्तिकों में परिभाषा की उपस्थिति ज्ञात होती है। अनन्तर पतञ्जलि विरचित महाभाष्य में ज्ञापक न्यायसिद्धादि परिभाषाएँ हैं। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि परिभाषाशास्त्र का व्याकरणशास्त्र में अपना विशिष्ट स्थान है। व्याकरणशास्त्र में सूत्रार्थ प्रकाशन की दृष्टि से तथा शब्द निर्वचन की दृष्टि से परिभाषा शब्द का व्याख्यान उपलब्ध होता है।

पाणिनि प्रत्यक्षरूप से परिभाषा शब्द का उल्लेख नहीं करते हैं परन्तु अप्रत्यक्षरूप से सूत्रों में परिभाषा अन्तर्निहित है। जैसे **'इको गुणवृद्धी'** १.१.१३ इत्यादि। वार्तिककार स्पष्ट रूप से परिभाषा शब्द का प्रयोग बहुत से स्थलों पर करते हैं, परन्तु उन्होंने उसका लक्षण नही दिया है। जैसे– **'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'** १.१.६८ इस सूत्र के व्याख्यान के अवसर में कहते हैं कि वर्णपाठ का उपदेश इसलिए करते हैं कि अपरकाल से परिभाषा का अनुपदेश ही **'स्वरितेनाधिकारः'** १.३.११ सूत्र के प्रसङ्ग में कात्यायन स्पष्ट करते हैं। **वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात्परिभाषाया अनुदेशः अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः।**[२] कात्यायन के मत में अन्य निर्देश का निवर्तक होने से ही वे परिभाषाएँ कहलाती हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि भी परिभाषा शब्द के प्रयोग में अधिकारसूत्र तथा परिभाषासूत्र के भेद निरूपण के अवसर पर कहते हैं कि परिभाषा एकदेशस्थ होते हुए सर्वशास्त्र को प्रकाशित करती है। जैसे– दीपक अन्धकार को विनष्ट करके भवन को प्रकाशित करता है। **परिभाषा पुनरेकदेशस्था सति कृत्स्नं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्।**[३] उत्तरवर्ती वैयाकरण हरदत्त पदमञ्जरी में परिभाषा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं– **'परितः सर्वत्र पूर्वत्र परत्र व्यवह्रियते चानन्तरे च भाष्यते कार्यमनया सा परिभाषा।**[४] पाणिनि से पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने वाचनिक रूप से शब्दानुशासन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए परिभाषाओं को निबद्ध किया है। निश्चित रूप से अनेक परिभाषासूत्र पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों ने संग्रहीत किये, परन्तु व्याडि के मत में पूर्ववर्ती कौन से वे आचार्य हैं? जिन्होंने परिभाषा सूत्रों का निर्माण किया है यह कहना स्पष्ट रूप से असम्भव है। यह सम्भव हो सकता है कि पूर्वाचार्य रचित परिभाषासूत्रों का पाणिनि ने भी ग्रहण किया हो। इसलिए यह निसंकोच रूप से कह सकते हैं कि प्राचीन व्याकरणतन्त्र में परिभाषाएँ वाचनिकी ज्ञापक न्यायसिद्धादि से प्रसिद्ध है।

व्याकरणशास्त्र में परिभाषाओं की उपयोगिता

परिभाषा शब्द एक व्यापक रूप में ग्रहण किया जाने वाला शब्द है। व्याकरणशास्त्र में

परिभाषाएँ अपनी उपयोगिता के कारण महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती है। परिभाषाएँ व्याकरण में सम्भावित अनियमों, संदेहों, त्रुटियों तथा विसंगतियों आदि का निवारण करती हुई उचित व्यवस्था का प्रतिपादन करती है। परिभाषा व्याकरणशास्त्र का अभिन्न अंग है, जिसके बिना व्याकरणशास्त्र अंगहीन सा प्रतीत होगा यदि परिभाषाओं को व्याकरणशास्त्र से निष्कासित कर दिया जाए तो संस्कृत व्याकरणशास्त्र अपनी ही विसङ्गतियों में उलझकर रह जाएगा और अन्य सभी व्याकरणों की अपेक्षा एक सुसंगठित एवं नियमित व्याकरण के रूप में प्राप्त अपनी प्रसिद्धि से भी वञ्चित हो जाएगा। इसलिए संस्कृत व्याकरणशास्त्र में परिभाषाओं की अपनी उपयोगिता महत्त्वपूर्ण है। परिभाषाओं की उपयोगिता व्याकरण प्रक्रिया में भिन्न- भिन्न प्रकार के कार्यों के आधार पर की जा सकती है।

अर्थनिर्णायिका रूप में परिभाषा

व्याकरण की सूत्र पद्धति बहुत ही वैज्ञानिक व सारगर्भित है। संक्षिप्त होते हुए भी विस्तृत है। अतः उनके अनेक प्रकारों के अर्थ किए जा सकते हैं, परन्तु उन सूत्रों का सही अर्थ क्या किया जाए? जिससे की यथायोग्य अर्थ की निष्पत्ति हो सके जिसके लिए परिभाषाएँ आवश्यक होती हैं। परिभाषाएँ उचित अर्थ का निष्पादन करती हुई सार्थक अर्थ का प्रयोग निर्देश करती है। जैसे- **'कार्यमनुभवन् हि कार्यो निमित्ततया नाश्रीयते"** इस परिभाषा के अनुसार जिसके स्थान पर कार्य किया जाता है, वह कार्य का अनुभव करने वाला अर्थात् कार्यी उस कार्य का निमित्त नहीं होता। इस परिभाषा से अध्येता, शयिता जैसे प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। अध्येता शब्द अधिपूर्वक 'इङ् अध्ययने' धातु से 'तृच्' प्रत्यय करके **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** से गुण होकर बनता है।

इसी प्रकार शयिता शब्द 'शीङ् शये' धातु से 'तृच्' प्रत्यय, इडागम तथा **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** से गुण एवं अयादेश करने पर सिद्ध होता है। इन दोनों स्थितियों में इङ् और शीङ् धातु के ङित् होने से **'क्ङिति च'** सूत्र से गुण निषेध प्राप्त था, परन्तु प्रस्तुत परिभाषा की सहायता से यह निषेध बाधित होकर इष्ट रूप सिद्ध होते हैं। यहाँ इङ् और शीङ् धातु गुणरूपी कार्य का अनुभव करने वाले कार्य हैं। अतः गुण के निमित्त के रूप में इनका आश्रयण नहीं होगा, इसलिए **'क्ङिति च'** सूत्र से गुण निषेध नहीं होगा।

'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार जहाँ सूत्र में प्रातिपदिक मात्र का उच्चारण करके किसी कार्य का निर्देश किया गया हो तो वहाँ लिङ्ग से युक्त होने पर भी उस प्रतिपदिक से वह कार्य निष्पन्न हो जायेगा। जैसे अयः कुम्भी में विसर्ग के स्थान पर सकार 'अतः **'कृकमिकं सकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य'** इस सूत्र से तभी हो सकता था जब कुम्भी के स्थान पर कुम्भ शब्द हो; क्योंकि सूत्र में कुम्भ शब्द का उल्लेख है किन्तु लोकसिद्ध 'अयस्कुम्भी' शब्द की सिद्धि के लिए **'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'** इस परिभाषा को स्वीकार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति,

प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्, सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य, कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्, प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्, अर्थवग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्, सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः इत्यादि परिभाषाएँ भी सूत्रों के उचित अर्थ का निश्चय कराती हुई सूत्रार्थ निर्णायक सिद्ध होती हैं। इस प्रकार से अनेक ऐसी परिभाषाएँ हैं जो सूत्रों के अर्थ निश्चय में नितान्त उपयोगी है।

विप्रतिषेधविषयक परिभाषा

आचार्य पाणिनि ने व्याकरणशास्त्र के सूत्रों को एक निश्चित क्रम में सुनियोजित किया है, किन्तु कुछ संकेतों को छोड़कर उन्होंने यह निश्चित नहीं किया कि यदि अनेक सूत्रों की प्रवृत्ति एक स्थान पर हो रही है, तो कौन सा सूत्र प्रथम प्रवृत्त होगा तथा कौन सा बाद में हो? तथा किस सूत्र के द्वारा किस सूत्र का बाध होगा? इन सब सूत्रों की प्रधानता का निर्धारण परिभाषाओं के द्वारा स्पष्ट रूप से किया जाता है। जैसे–'**पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः**' अर्थात् पूर्व, पर, नित्य, अन्तरङ्ग तथा अपवाद इनमें से पूर्व–पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर बलवान् होता है। आशय यह है कि पूर्व से पर, पर से नित्य, पर औरा नित्य से अन्तरङ्ग तथा पर और नित्य, अन्तरङ्ग इन तीनों से अपवाद बलवान होता है। बलवान कहने से यह निश्चय होता है कि यदि दो शास्त्रों का परस्पर विरोध उपस्थित हो जाने पर उस परिस्थिति में बलवान शास्त्र दुर्बल शास्त्र को बाध देता है। यथा परशास्त्र से पूर्वशास्त्र का बाध उदाहरण '**वृक्षेभ्यः**' प्रयोग में देख सकते हैं। वृक्ष + भ्यस् इस अवस्था में '**सुपि च**' ७.३.१०२ सूत्र से दीर्घ तथा '**बहुवचने झल्येत्**' ७.३.१०३ सूत्र से एत्व, इन दोनों कार्यों की एक साथ प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार तुल्यबल विरोध होने पर पूर्वशास्त्र 'सुपि च' को बाधकर परशास्त्र एत्व विधायक 'बहुवचने झल्येत्' की प्रवृत्ति होकर 'वृक्षेभ्यः' पद की सिद्धि होती है। परशास्त्र से नित्यशास्त्र बलवान होता है। 'तुदति' इस उदाहरण में 'तुदादिभ्यः शः' ३.१.७७ इस सूत्र से 'श' प्रत्यय होता है तथा '**पुगन्तलघूपधस्य च**' ७.३.८६ सूत्र से लघूपधगुण ये दोनों कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं। इनमें लघूपधगुण 'श' प्रत्यय होने के बाद नहीं हो सकता, क्योंकि श प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' से ङित्वत् होकर '**क्ङिति च**' १.१.५ सूत्र से गुण निषेध होता है, किन्तु 'श' प्रत्यय कृताकृतप्रसङ्गी होने से नित्य है। अतः नित्य होने के कारण परवर्ती लघूपध गुण को बाधकर पहले प्रवृत्त होता है, जिससे 'तुदति' यह रूप सिद्ध हो जाता है।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक परिभाषाएँ हैं जो शास्त्रों के पूर्व–परत्व, बाध्य बाधकत्वादि भावों को स्पष्ट करती हुई सूत्रों के प्राधान्य निर्धारण में सहायक सिद्ध होती हैं। जैसे– पूर्वं हि अपवादाभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः, अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तह्यन्तरङ्गेण बाध्यते, अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते, विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्, येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति, उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्, परान्नित्यं बलवत्, अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान्, पुरस्तादपवाद–अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्, प्रकल्प्य चापवादविषयं तत

उत्सर्गेऽभिनिविशते, उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी, अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति, मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्, अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते, इत्यादि।

व्यपदेशिवद्भाव से सम्बन्धितपरिभाषा

'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' व्यपदेशिवत् अर्थात् अङ्गिवत् कार्य हो जाता है। भू धातु से लिट् लकार करने पर '**लिटिधातोरनभ्यासस्य**' ६.१.८ सूत्र से प्रथम एकाच को द्वित्व होता है, परन्तु 'भू' में एकमात्र अच् 'ऊ' है। अतः इसमें प्रथम एवं द्वितीय आदि अच् न होने से सूत्र की प्रवृत्ति बाधित हो जाती है, किन्तु 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' यह परिभाषा उपस्थित होकर एकमात्र अच् को ही प्रथम अच् मानकर द्वित्व करके 'बभूव' शब्द की सिद्धि हो जाती है।

अतिदेश कार्य के लिए उपयोगी परिभाषा

पाणिनीय व्याकरण में ऐसी अनेक परिभाषाएँ हैं जो अतिदेश सम्बन्धित कार्यों के लिए उपयोगी रही हैं। जैसे- '**सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः**' अर्थात् सामान्यधर्म और तत्प्रयुक्त कार्य का अतिदेश यदि सम्भव हो तो विशेष धर्म और तत्प्रयुक्तकार्य का अतिदेश नहीं होता है। जैसे '**आशंसायां भूतवच्च**' ३.३.१३२ इस सूत्र से भविष्यत् काल में भूतवत् तथा वर्तमानवत् प्रत्यय विकल्प से प्राप्त होते हैं। इसके अनुसार भविष्यत्काल के अर्थ में लुङ् लकार होकर देवश्चेदवर्षीत् धान्यमवाप्स्म' यह वाक्य बनता है, किन्तु लुङ् के साथ-साथ लङ् और लिट् लकार भी प्राप्त होते हैं, जो कि अनिष्ट है। जिनका निवारण '**सामान्याति देशे विशेषानतिदेशः**' इस परिभाषा के बल से सामान्यभूतत्व के अतिदेश में भूतत्व विशेष धर्म वाले लङ् एवं लिट् का निवारण हो जाता है।

आगमकार्य के लिए उपयोगी परिभाषा

व्याकरण प्रक्रिया में आगम कार्य निर्धारण के लिए भी परिभाषाओं ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है। जैसे- '**यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेनगृह्यन्ते**' इस परिभाषा के अनुसार जिसको आगम किया जाता है, वह आगम उसी आगमी का अवयव बनकर उस आगमी के ग्रहण से गृहीत होता है। यथा 'प्र' 'नि' उपसर्गपूर्वक 'दा' धातु से णिच् प्रत्यय, पुक् आगम तथा 'नेर्गदनदपतपदधुमास्यतिहन्तियातिवातिद्वातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च' ८.४.१७ इस सूत्र से नि के नकार को णकार होकर 'प्रणिदापयति' यह रूप सिद्ध होता है, परन्तु 'पुक्' आगम होने से पर घु संज्ञक दा धातु दाप् का रूप ले लेता है, जिसकी 'दाधाध्वदाप्' से घु संज्ञा का निषेध होने से 'नेर्गदनदपत.' इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो पाती है और णत्व कार्य बाधित हो जाता है तब यहाँ प्रकृत परिभाषा से आगम आगमी का अवयव बनाकर आगमी बोधक शब्द के द्वारा गृहीत होता है, उसकी घु संज्ञा अबाधित रहती है। फलतः 'नेर्गदनदपतपद.' इस सूत्र से णत्व करके 'प्रणिदापयति' यह इस रूप सिद्ध हो जाता है।

अनुवृत्ति एवं निवृत्ति कार्य के लिए उपयोगी परिभाषा

सूत्र अथवा सूत्रांशों की अनुवृत्ति के निश्चय के लिए भी परिभाषाओं ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है। जैसे **'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः'** अर्थात् परस्पर अन्वितार्थ पदों की अनुवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों साथ-साथ होती है। इस परिभाषा के कारण **'उश्च'**१.२.१२ इस सूत्र में **'लिङ्गसिचावात्मनेपदेषु'** १.२.११ सूत्र से लिङ् सिचौ तथा आत्मनेपदेषु दोनों पदों की अनुवृत्ति सम्भव हो पाती है अन्यथा इस परिभाषा के अभाव में उत्तर सूत्र 'उश्च' में पूर्व सूत्र के समीपवर्ती पद 'आत्मनेपदेषु' की ही अनुवृत्ति हो पाती लिङ्गसिचौ की नहीं।

'एकयोगनिर्दिष्टानां क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते' यह परिभाषा उपर्युक्त परिभाषा 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' के कारण होने वाली असंगति अथवा दोष का निवारण करती है। 'अलुगुत्तरपदे' सूत्र में 'अलुक्' और 'उत्तरपदे' ये दो पद है। अतः 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इस परिभाषा के द्वारा जहाँ तक अलुक् की अनुवृत्ति हो वहीं तक उत्तरपदे की भी अनुवृत्ति होनी चाहिए परन्तु अलुक् की अनुवृत्ति 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' सूत्र से पहले अर्थात् 'विभाषा स्वसृपत्योः' ६.३.२३ सूत्र पर्यन्त ही स्वीकार की जाती है जबकि 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति अङ्गाधिकार से पहले अर्थात् ''सम्प्रसारणस्य' ६.३.१३८ सूत्र पर्यन्त मानी जाती है। इस दोष का निवारण करते हुए प्रकृत परिभाषा कहती है कि एकयोगनिर्दिष्टों में से कहीं एकदेश अर्थात् एक अवयव की भी अनुवृत्ति हो जाती है। अतः 'अलुगुत्तरपदे' में अलुक् और उत्तरपदे एकयोगनिर्दिष्ट होने पर भी भिन्न-भिन्न सूत्र पर्यन्त अनुवर्तित होते हैं। 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' को स्वीकार करने वाले वैयाकरणों के लिए अनुवृत्ति कार्य अपरिहार्य है जिसका उचित निर्देशन परिभाषाओं के द्वारा सम्पन्न होता है।

आदेश सम्बधित कार्यों में उपयोगी परिभाषा

आदेश सम्बन्धित कार्यों के लिए भी परिभाषाओं की अपनी उपयोगिता रही है। जैसे- **'निर्दिश्यमानस्य आदेशा भवन्ति'** इस परिभाषा के अनुसार निर्दिश्यमान के स्थान पर आदेश होता है अर्थात् सूत्र में षष्ठी विभक्ति की प्रकृति के रूप में निर्देशित को ही आदेश होता है। उत् पूर्वक 'स्था' धातु से लुङ् लकार, अडागम, तिप् प्रत्यय, अनुबन्ध लोप इकार लोप तथा सिच् का लुक् करने पर 'उद् + अस्थात्' इस अवस्था में **'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यते'** इस परिभाषा से सम्पूर्ण 'अस्था' को **'उदः स्थास्तम्भो पूर्वस्य'** ८.४.६० से पूर्व सवर्ण प्राप्त होता है, जो इष्ट नहीं है। परन्तु प्रकृत परिभाषा को मानने पर उद् से पर में रहने वाले निर्दिश्यमान 'स्था' और 'स्तम्भ' को पूर्व सवर्ण होता है। अतः यहाँ अकार का व्यवधान होने के कारण पूर्व सवर्ण की प्राप्ति ही नहीं है जिसके कारण 'उदस्थात्' यह इष्ट रूपसिद्ध होता है।

सवर्णकार्य में उपयोगी परिभाषा

व्याकरण प्रक्रिया में सवर्ण कार्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस सवर्ण कार्य के लिए भी

परिभाषाएँ उपयोगी सिद्ध हुई हैं। जैसे '**भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न**' भाव्यमान अर्थात् सूत्र में जो विधीयमान है वह स्वसवर्ण का ग्राहक नहीं होता है। इस परिभाषा के कारण 'इमम्' के स्थान पर 'इमँम्' यह अनिष्ट रूप नहीं बनता है। इदम् प्रातिपदिक से द्वितीया विभक्ति में अम् के परे रहते '**त्यदादीनामः**' ७.२.१०२ इस सूत्र से मकार के स्थान पर अकार आदेश '**अमिपूर्वः**' ६.१.१०३ सूत्र से पूर्वरूप तथा '**दश्च**' ७.२.१०९ सूत्र से दकार को मकार करके 'इमम्' यह रूप बनता है परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि मकार अनुनासिक है उसके स्थान में होने वाला अकार भी अनुनासिक ही होना चाहिए। इस प्रकार पूर्वरूप करने पर 'इमँम्' यह अनिष्ट रूप बनता है। इस अनिष्ट का निवारण 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इस परिभाषा से होता है। 'त्यदादीनामः' ७.२.१०२ सूत्र से 'अ' भाव्यमान या विधीयमान है। अतः वहाँ सवर्णग्राहकता नहीं होती। अतः 'म' के स्थान पर अनुनासिक अकार न होकर निरनुनासिक अकार ही होता है।

'**भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति**' उकार यदि भाव्यमान भी हो तब भी वह स्वसवर्ण का ग्राहक होता है। 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इस परिभाषा से स्वसवर्ण के ग्रहण का निषेध करता है परन्तु सदैव ऐसा मानने पर कुछ दोष उत्पन्न होते हैं। जैसे '**अदसोऽसेर्दादुदो मः**' ८.२.८० इस सूत्र से अदस् शब्द के दकार उत्तरवर्ती ह्रस्व अकार को ह्रस्व उकार आदेश तो होगा परन्तु दीर्घ स्वर को दीर्घ ऊकारादेश नहीं हो पाएगा; क्योंकि सूत्र में ह्रस्व उकार का निर्देश है। इसलिए सवर्णग्राहकता न होने से दीर्घ ऊकार का विधान नहीं हो पाएगा। अतः 'भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति' यह परिभाषा उपस्थित होकर कहती है कि भाव्यमान (विधीयमान) यदि उकार हो तो उससे सवर्ण का ग्रहण हो जाएगा। इसलिए '**अदसोऽसेर्दादुदो मः**' ८.२.८० सूत्र से विधीयमान उकार अपने सवर्ण का भी ग्रहण कराएगा। फलतः अदस् + औ इस स्थिति में अत्व, पररूप और '**वृद्धिरेचि**' ६.१.८५ से वृद्धि होकर 'अदौ' बनने पर 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' से 'औ' के स्थान पर दीर्घ ऊकार हो जाएगा, जिससे 'अमू' यह इष्ट शब्दरूप सिद्ध होता है।

लोप प्रक्रिया में उपयोगी परिभाषा

लोप विषयक कार्यों में भी परिभाषाएँ उपयोगी रही हैं। जैसे- '**निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः**' निमित्त का अभाव हो जाने पर नैमित्तिक अर्थात् उस निमित्त से होने वाले कार्य का भी अभाव हो जाता है। जैसे- 'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु से लट् लकार होने पर '**धात्वादेः षः सः**' ६.१.६२ सूत्र से षकार को सकार आदेश हो जाता है। '**ष्टुना ष्टुः**' ८.४.४० इस सूत्र से षकार निमित्त है टकार का इसलिए निमित्त के न रहने पर नैमित्तिक ष्टुत्व का भी अभाव होकर टकार को तकार हो जाता है जिससे 'स्तौति' यह धातुरूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ष्णा शौचे' धातु के लट्लकार धातुरूप में 'धात्वादेः षः सः' इस सूत्र से षकार को सकार आदेश होने पर णकार के निमित्त षकार के अभाव में णकार को नकार हो जाता है जिससे 'स्नाति' यह धातुरूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्', 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' सन्त्रियोग-शिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यापायः निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः आदि परिभाषाएँ भी लोप विषयक व्याकरण प्रकिया में सहायक होती हैं।

स्थानिवद्भाव से सम्बन्धित कार्यों में उपयोगी परिभाषा

पाणिनीय व्याकरण में स्थानिवद्भाव से सम्बन्धित कार्यों में भी परिभाषाएँ उपयोगी रही हैं। जैसे- अन्य वैयाकरणों ने पाणिनि परिभाषा सूत्र '**स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ**' १.१.५५ के समान ही '**स्थानिवदादेशोऽवर्णविधौ**' परिभाषा का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार वर्णाश्रय विधि को छोड़कर होने वाला अन्य आदेश स्थानी के समान ही माना जाता है इसलिए 'अस्' के स्थान पर होने वाला 'भू' आदेश क्त्वा के स्थान पर होने वाला 'ल्यप्' आदेश आदि क्रमशः अस् और क्त्वा ही माने जाते हैं तथा अस् और क्त्वा से होने वाले कार्य इनसे भी हो जाते हैं। साथ ही वर्णसम्बन्धी आदेश हो तो स्थानिवद् भाव नहीं होता है। जैसे 'सु ध् य् उपास्य' में हुआ 'य' आदेश वर्णादेश होने के कारण स्थानी 'ई' के रूप में नहीं माना जाएगा, फलस्वरूप '**अनचि च**' ८.४.४६ से धकार को द्वित्व हो जाता है।

अनुबन्ध कार्य विषयक परिभाषा

अनेक ऐसी परिभाषाएँ हैं जो अनुबन्ध विषयक कार्यों में उपयोगी रही हैं। जैसे- 'तस्य लोपः' १.३.९ इस सूत्र के भाष्य में '**एकान्ताः**' यह परिभाषा पढ़ी गई है, जिसके अनुसार अनुबन्ध अपने सहोच्चारित के अवयव होते हैं। ऐसा होने पर ही इत्संज्ञा वाले सूत्र 'चुटू' १.३.७ और 'लशक्वतद्धिते' १.३.८ के द्वारा प्रत्यय के आदि अवयव चकारादि एवं लकारादियों की अनुबन्ध संज्ञा की जाती है।

'**नानुबन्धकृतमासारूप्यम्**' अनुबन्धों के कारण असारूप्यता नहीं होती। यह परिभाषा उत्सर्ग और सामान्य सूत्रों में होने वाले नित्य अथवा वैकल्पिक बाधनकार्य को नियमित करती है। जैसे '**कर्मण्यण्**' ३.२.१ इस उत्सर्ग सूत्र से प्राप्त होने वाले 'अण्' के प्रति '**आतोऽनुपसर्गे कः**' ३.२.३ इस सूत्र से प्राप्त होने वाला 'क' प्रत्यय अपवाद है। अनुबन्ध के कारण दोनों प्रत्यय अस्वरूप दिखाई देते हैं। अतः '**वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्**' ३.१.९४ से अण् का 'क' प्रत्यय विकल्प से बाध करेगा, जिससे 'अण्' होकर 'गोदायः' और 'क' प्रत्यय होकर 'गोदः' ये रूप प्राप्त होने लगेंगे जो इष्ट नहीं है। ऐसी अवस्था में '**नानुबन्धकृतमासारूप्यम्**' यह परिभाषा कहती है कि अनुबन्ध प्रत्ययों के साथ होने पर भी सरूपता अथवा असरूपता में कारण नहीं होंगे। ऐसा होने पर सरूपता के प्रसङ्ग में 'अण्' प्रत्यय का 'अ' ग्रहण होगा तथा 'क' प्रत्यय का भी 'अ' ग्रहण होगा। स्पष्ट रूप से दोनों परस्पर सरूप प्रत्यय सिद्ध होंगे। फलस्वरूप अपवादभूत 'क' प्रत्यय से 'अण्' प्रत्यय का नित्य बाध होकर 'गोदः' इस इष्ट रूप की सिद्धि होगी।

इस प्रकार 'नानुबन्धकृतमनेकालत्वम्, निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य, तदनुबन्धकग्रहणे

नातदनुबन्धकस्य इत्यादि परिभाषाएँ अनुबन्ध विषयक व्याकरण प्रक्रिया में सहायक होती हैं।

निपातन कार्य के लिए उपयोगी परिभाषा

व्याकरणशास्त्र में 'निपातन' शब्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य पाणिनि आदि वैयाकरणों को अनेक ऐसे लैकिक शब्द प्राप्त हुए जो उनके द्वारा रचित व्याकरणिक प्रक्रियाओं से सिद्ध नहीं हो रहे थे, उनकी सिद्धि किस प्रकार की जाए? इसके लिए 'निपातन' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा कि निपातन के द्वारा ही उनकी सिद्धि सम्भव है, किन्तु निपातन से सिद्ध होने वाले कार्य को दोषपूर्ण न कहा जाए इसके लिए परिभाषा बनाई गई **'बाधकान्येव निपातनानि'** अर्थात् अपवाद के समान ही निपातन भी अपने उत्सर्गशास्त्र का बाधकर प्रवृत्त होते हैं। **'सर्वादीनि सर्वनामानि'** १.१.२७ इस सूत्र में प्रयुक्त 'सर्वनाम' पद में **'पूर्वपदात्संज्ञायामगः'** ८.४.३ सूत्र से नकार को प्राप्त था, किन्तु पाणिनि ने निपातन के द्वारा णत्व का निषेध किया परन्तु सूत्र में णत्वाभाव होने से क्या लोक में भी णत्वाभाव ही होगा? इसका निश्चय 'बाधकान्येव निपातनानि' परिभाषा के द्वारा होता है, जिसके अनुसार निपातन कार्य उत्सर्गशास्त्रीय कार्य का नित्य बाध करेगा जिससे सूत्र में अथवा लोक में भी निपातन कार्य ही साधु होगा। अतः लौकिक प्रयोग में भी 'सर्वनाम' शब्द णत्व नहीं होता है।

व्यवस्थित विभाषा के लिए उपयोगी परिभाषा

'व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि क्रियन्ते' व्यवस्थित विभाषा के द्वारा कार्य किया जाता है। विभाषा चार प्रकार की होती है– प्राप्तविभाषा, अप्राप्तविभाषा, प्राप्ताप्राप्तविभाषा तथा व्यवस्थितविभाषा। जो विभाषा लक्ष्य सिद्धि को ध्यान में रखकर होती है, उसे व्यवस्थित विभाषा कहते हैं। इसका उपयोग **'अवङ् स्फोटायनस्य'** ६.१.१२९ इस सूत्र की प्रवृत्ति में देखा जाता है। वातायन अर्थ में गो + अक्षः इस अवस्था में 'अवङ् स्फोटायनस्य' इस सूत्र से अवङ् होकर 'गवाक्षः' बनता है, परन्तु 'अवङ्' आदेश विकल्प से होता है। अतः 'अवङ्' के विकल्प पक्ष में **'सर्वत्र विभाषागोः'** ६.१.१२८ सूत्र से पक्ष में प्रकृतिभाव करके गो अक्षः तथा दूसरे पक्ष में **'एङः पदान्तादति'** ६.१.१०५ सूत्र से पूर्वरूप करके 'गोऽक्षः' भी बनता है जो अभीष्ट नहीं है। तब **'व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि क्रियन्ते'** यह परिभाषा कहती है व्यवस्था लक्ष्य के अनुसार होती है। अर्थात् यहाँ लक्ष्य 'गवाक्षः' की सिद्धि करना है, इसलिए गो अक्षः में 'अवङ् स्फोटायनस्य' इस सूत्र की नित्य प्रवृत्ति होगी विकल्प से नहीं होती। किन्तु गो अग्रम की अवस्था में लक्ष्य 'गवाग्रम' गो अग्रम तथा गोऽग्रम् की सिद्धि करना अतः यहाँ विकल्प से 'अवङ् स्फोटायनस्य' की प्रवृत्ति होती है। इसलिए 'गवाक्षः' इस एकमात्र रूप के बनने में कोई दोष नहीं है।

योगविभाग से सम्बन्धित कार्यों में उपयोगी परिभाषा

सूत्रों के निकष पर लोक प्रयुक्त कई शब्द सिद्ध नहीं हो सकते थे। अतः भाष्यकार ने किसी

अन्य सूत्रों की कल्पना न करके सूत्रों में ही विभाग कर उन शब्दों को सिद्ध किया है। पाणिनि सूत्र ही योग है। इसका विभाग करके इष्ट शब्दों की सिद्धि की जाती है। इस बात का संकेत **'योगाविभागादिष्टसिद्धिः'** परिभाषा में दिया गया है। अर्थात् इष्ट शब्दों की सिद्धि के लिए योग विभाग करना चाहिए, किन्तु अनिष्ट शब्द इससे सिद्ध न हों। इस परिभाषा को स्वीकार करके 'आतो धातोः' ६.४.१४० इस सूत्र में 'आतः' का योग विभाग कर 'क्त्वः', 'श्नः' आदि इष्ट शब्द सिद्ध ही किए जाते हैं। योगविभाग की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका संकेत **'पदगौरवाद् योगविभागो गरीयान्'** इस परिभाषा से प्राप्त होता है।

उणादि प्रत्ययों से सम्बन्धित परिभाषा-

आचार्य पाणिनि आदि वैयाकरण बहुत से अनियमित शब्दों की सिद्धि उणादि प्रत्यय लगाकर **'उणादयो बहुलम्'** ३.३.१ सूत्र के द्वारा करते हैं। इसलिए इन उणादि प्रत्ययान्त शब्दों को पद मानना चाहिए या नहीं इस विषय में उत्पन्न शंका का समाधान **'उणादयोऽव्युत्पनानि प्रातिपादकानि'** इस परिभाषा के द्वारा देते हैं। उणादि प्रत्ययान्त शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् प्रकृति-विकृति विभागशून्य प्रातिपादिक हैं। इस कारण **'वृतृवदिहनिकमिकषिभ्यः सः'** ३.६२ उणादिसूत्र इस सूत्र से बनने वाला 'कंस' शब्द में 'कम्' धातु और 'स' प्रत्यय जैसे विभाग नहीं माने जाते। जिससे 'कंस' को कमादि मानकर 'कंस' शब्द का ग्रहण किए बिना? अतः **'कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य'** ८.३.४६ सूत्र से 'अयस्कंसः' में सत्त्व नहीं हो सकता था। इस कारण 'अयस्कंसः' में सत्त्व विधान के लिए सूत्र में 'कंस' शब्द का पृथक् निर्देश किया गया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर व्याकरणशास्त्र में परिभाषाओं की महत्ता स्वतः सिद्ध होती है। परिभाषाएँ शाब्दिक अनियमता रूपी दोषों को दूर करती हैं वहीं अपने अस्तित्व के कारण कहीं दोष भी उत्पन्न करती हैं। इस व्यवस्था को दूर करने के लिए **'ज्ञापकेऽर्थमनित्यम्'** **'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र'**, **'इयमनित्या'** इत्यादि परिभाषाओं की भी व्यवस्था की है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शाब्दिक प्रक्रिया में जहाँ कहीं सूत्रों द्वारा इष्ट सिद्धि नहीं होती हो वहाँ पर परिभाषाओं का आश्रय लिया जाता है, किन्तु जहाँ कहीं इन परिभाषाओं के आश्रय से दोष उत्पन्न होता है वहाँ पर उनका आश्रय नहीं लिया जाता है। इस प्रकार से परिभाषाओं का अस्तित्व सार्वत्रिक या सार्वकालिक न होते हुए भी इष्ट सिद्धि हेतु ये अपना विशेष महत्त्व रखती है।

सन्दर्भ

१. म. भा., षष्ठी स्थानेयोगा, १.१.४९
२. वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात्परिभाषाया अनुदेशः अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः। म. भा. अष्टाध्यायी, १.१.६८
३. महाभाष्य सूत्र, २.२.१

४. पदमञ्जरी, समर्थः पदविधिः, २.१.१

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, ज्ञिसासु ब्रह्मदत्त, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा, १९९८
- काशिकावृत्ति, आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा, १९९७
- नागेशमते परिभाषाणां विवेचनम्, पाठक डॉ. पुरुषोत्तम प्रसाद, ईस्टर्न बुॅक लिंकर्स, दिल्ली, १९९५
- परिभाषासंग्रह, अभ्यंकर के. वी, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्टीट्यूट, पूना, १९६७
- परिभाषेन्दुशेखर की समीक्षा (जयदेव मिश्र कृत विजयाटीका के आलोक में), झा रतीश चन्द्र-विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली-२०११
- व्याकरणमहाभाष्य पतञ्जलि, जोशी भार्गव शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८८-९२
- संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, (व्याकरण खण्ड-भाग- १५), आचार्य उपाध्याय, बलदेव, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, २००१
- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग-तीन), मीमांसक पं. युधिष्ठिर, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ, सोनीपत, हरियाणा, १९८४

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

अद्वैतवेदान्त में आत्मतत्त्व की सिद्धि : श्रुति युक्ति एवं अनुभव के आधार

डॉ. कपिल गौतम*

प्रबन्धसार (Abstract)– *भारतीय परम्परा में आत्म ज्ञान ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्रतिपादित किया गया है। भारतीय चिन्तन परम्परा में आत्मतत्त्व के स्वरूप एवं सिद्धि के विषय में गहन चिन्तन हुआ है। आत्मा को स्थूल शरीर से लेकर प्राण पर्यन्त आत्मा के स्परूप को बतलाया गया है। इन सभी पक्षों को पुत्रात्मवाद, देहात्मत्वाद, इन्द्रियात्मवाद, प्राणात्मवाद एवं अज्ञानात्मवाद आदि कहा गया है। इन सभी वादों या सिद्धान्तों में आत्मा किसी न किसी रूप में जड़ रूप में व्याख्यायित किया है। अद्वैतवेदान्त में उक्त समस्त मतों को श्रुति युक्ति एवं अनुभव के आधार पर प्रदर्शित कर उक्त मतों का खण्डन किया है तथा अन्त में वेदान्त परम्परा में निर्दिष्ट आत्मतत्त्व के स्वरूप को व्याख्यायित किया है। प्रस्तुत शोधपत्र में अद्वैतवेदान्त में श्रुति युक्ति एवं अनुभव के आधार आत्मतत्त्व की सिद्धि का विश्लेषण किया जा रहा है।*

मूलशब्द – पुत्र, देह, इन्द्रिय, प्राण, अज्ञान, प्रज्ञान, आत्मन्।

भूमिका–

आत्मतत्त्व प्रत्यगात्मा के रूप में – प्रत्यगात्मा उस चैतन्य को कहते हैं जो बुद्धि, मन, इन्द्रियसमूह, शरीर और दृश्य जगत् का साक्षी तथा दृष्टा होने से इन सब की अपेक्षा आन्तरिक है और इन सबका अधिष्ठान है। 'प्रत्यक्' शब्द का अर्थ होता है 'भीतरी' तथा 'पराक्' का अर्थ होता है 'बाहरी'। बुद्धि आदि पराक् हैं और आत्मा प्रत्यक् है। कठोपनिषद् के एक मन्त्र से इन दोनों शब्दों के समुचित अर्थ पर प्रकाश पड़ता है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।[१]

'स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर हनन कर दिया, इसलिए यह जीव पराक् अर्थात् बाह्य (अनात्मभूत) विषयों को ही देखता है। कोई विवेक की पुरुष ही अमृततत्त्व की इच्छा करते हुए (सम्पूर्ण विषयों से) इन्द्रियों को मोड़कर प्रत्यगात्मा अर्थात् साक्षिभूत अन्तरात्मा का दर्शन करता है।'

* सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

यहाँ पर ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि आत्मविषयक इन मतों का ऐतिहासिक क्रम से विकास हुआ है, बल्कि इस प्रकार के मत-मतान्तर प्रत्येक युग में प्रचलित रहे हैं। आज भी इन मतों के समर्थक विना ढूंढे ही मिल जाते हैं। वस्तुतः ये मत विभिन्न बौद्धिक स्तरों के परिचायक हैं। इनको प्रस्तुत करने का प्रयोजन **अरुन्धतीप्रदर्शनन्याय** से अथवा **मुञ्जादिषीकाग्रहणन्याय** से प्रत्यागात्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध कराना है।

१. आत्मतत्त्व की सिद्धि हेतु प्रयुक्त दो प्रकार के न्याय (तर्क)

१.१ अरुन्धतीप्रदर्शनन्याय- पहले स्थूलवस्तु का दर्शन करा के फिर उसकी सहायता से सूक्ष्मवस्तु का दर्शन जहाँ पर कराया जाता है, वहाँ पर **अरुन्धतीप्रदर्शनन्याय** अथवा **स्थूलारुन्धतीन्याय** का प्रयोग होता है। देखिए -

''यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां तारामुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वत्।''[२]

''जैसे अरुन्धती नामक तारे को दिखलाने की इच्छा वाला पहले उसके समीप से स्थित किसी स्थूल (बड़े) तारे को, जो वस्तुतः अरुन्धती नहीं है, उसको 'यह अरुन्धती है' ऐसा ग्रहण कराकर, पीछे उसका निषेध करके, वास्तविक अरुन्धती को ही दिखलाता है, उसी प्रकार।''

अरुन्धती नामक तारा बहुत सूक्ष्म होता है, इसलिए सीधे उसी की ओर संकेत करके दिखा पाना बहुत ही कठिन है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष जब किसी को अरुन्धती दिखना चाहते हैं, तो पहले अरुन्धती के पास वाले किसी बड़े ओर चमकीले तारे को दिखाते हैं। जब वह व्यक्ति उस बड़े तारे को देख लेता है, तब उसे असली अरुन्धती दिखाकर उस बड़े तारे का निषेध कर देते हैं। यही **अरुन्धतीप्रदर्शनन्याय** है। ठीक इसी प्रकार से आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सीधे ग्रहण नहीं कराया जा सकता है। इसलिए पुत्रादि स्थूल पदार्थों से प्रारम्भ करके क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर पदार्थों को आत्मत्वेन ग्रहण कराते हुए अन्त में सूक्ष्मतम वास्तविक आत्मतत्त्व का ग्रहण कराया जाता है। प्रस्तुत प्रकरण में इसी न्याय का आश्रय लेकर, स्थूलतम पुत्र से प्रारम्भ करके शून्यपर्यन्त अनात्मवस्तुओं को आत्मरूप से बताकर, अन्त में उन सबका निषेध करके सत्य आत्मा का दर्शन कराया गया है।

१.२ मुञ्जादिषीकाग्रहणन्याय (अर्थात् मूँज से सिरकी निकालने का न्याय) - यह न्याय भी स्थूल का निषेध करके सूक्ष्म को ग्रहण करने में प्रयुक्त होता है। सिरकी के ऊपर मूँज के कई परतें होते हैं। इसलिए सिरकी निकालने के लिए पहले सबसे ऊपर का परत सावधानी से हटाया जाता है। असावधानी से हाथ घायल हो सकता है। उसके बाद क्रमशः एक-एक कर नीचे के परत भी हटा दिए जाते हैं, अन्त में सिरकी निकल आती है। उसी प्रकार आत्मवस्तु के ऊपर अनात्मवस्तुओं के अनेकानेक आवरण चढ़े हुए हैं। उन आवरणों को विना उतारे हुए आत्मा का दर्शन असम्भव है। प्रस्तुत प्रकरण में आत्मा के सबसे बाहरी स्थूल आवरण हैं, स्त्री-पुत्र इत्यादि

और सबसे अन्तिम आवरण है- शून्य। ये सब अनात्मरूप हैं, परन्तु विभिन्न बौद्धिक स्तरों पर आत्मरूप से प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में इन सभी अनात्मपदार्थों के आत्मत्व का खण्डन करके अन्त में शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। विद्यारण्यस्वामी कहते हैं-

यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरत्रियताद् धीरैः परं ब्रह्मैव जायते।।[३]

"जिस प्रकार मूँज से सिरकी युक्तिपूर्वक निकाल ली जाती है, उसी प्रकार धीर पुरुषों के द्वारा शरीरत्रय (कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल) से यदि आत्मा को युक्तिपूर्वक पृथक् कर लिया जाय, तो वह परब्रह्म ही हो जाता है।" श्रुति भी कहती है-

अगुंष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
न स्वाच्छरीरात् प्रवहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति।।

अर्थात् "अंगुष्ठमात्र पुरुष, जो सबका अन्तरात्मा है, और सर्वदा लोगों के हृदयदेश में स्थित रहता है, उसे मूँज से सिरकी के समान धैर्यपूर्वक शरीर से पृथक् करे, अर्थात् शरीर से पृथक् अनुभव करे। उसे शुक्र (अर्थात् विशुद्ध) और अमृत स्वरूप का समझना चाहिए।"

२. पुत्रात्मवाद - 'आत्मा वै जायते पुत्रः।'[४] **स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्** - यह पुत्रात्मवाद की समर्थित का युक्ति है। बाल-बच्चों के प्रति मनुष्य का अपने समान ही प्रेम होता है, बल्कि कभी-कभी तो अपनी अपेक्षा भी अधिक हो जाता है। मनुष्य स्वयं भूखा रहकर भी अपने बच्चों को खिलाता है, और उनको खाते देखकर प्रसन्न होता है। मिठाई, फल आदि स्वयं खाकर मनुष्य को उतनी प्रसन्नता नहीं होती है, जितनी बच्चों को खिलाकर। इससे पुत्रादि के प्रति मनुष्य का परम प्रेम सिद्ध होता है, और प्रेमास्पद आत्मा ही होता है, अतः पुत्रादि ही आत्मा हैं।

३. देहात्मवाद - 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।'[५] यह श्रुति पुत्रात्मवाद का खण्डन तथा स्थूलदेहात्मवाद का समर्थन करने के लिए उद्धृत की गई है। इसमें 'सः' शब्द पुरुष की प्रसिद्धि का द्योतक है, और 'एषः' से उसे प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण करने योग्य बताया गया है। 'अन्नरसमयः' का अर्थ है - चूँकि अन्न के रस (शुक्र) से ही यह पुरुष उत्पन्न होता है, और अन्न के रस से ही धीरे-धीरे बढ़ता है, इसलिए यह अन्नरस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है लोक में आत्मा के लिए 'पुरुष' शब्द का व्यवहार किया जाता है और श्रुति में 'पुरुष' शब्द का अन्नरसमय देह के लिए प्रयोग किया गया है, इसलिए स्थूल देह ही आत्मा है, यह बात प्रमाणित हो गई।

स्थूलदेह का आत्मत्व प्रमाणित करने के लिए यह युक्ति दी गई है, तथापि मुख्यरूप से इसके द्वारा पुत्रात्मवाद का खण्डन ही अभिप्रेत है। पुत्रात्मवादी कहता है कि पुत्र के प्रति मनुष्य का परम प्रेम होता है, परन्तु उसकी यह बात ठीक नहीं हैं, क्योंकि संसार में अपने से बढ़कर कुछ भी प्रिय नहीं है। स्त्री, पुत्र, भूमि, भवन और सम्पत्ति आदि इसलिए प्रिय हैं, क्योंकि अपने काम आते हैं।

इनके द्वारा यदि मनुष्य के स्वार्थ की हानि होती है, तो ये शत्रु जैसे प्रतीत होते हैं। श्रुति कहती है– **'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ।'**[६]

४. इन्द्रियात्मवाद – 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः।'[७] अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिए परस्पर विवाद करते हुए) वे प्राण (इन्द्रियाँ) अपने पिता प्रजापति के पास आकर बोले, (भगवान् ! हममें कौन श्रेष्ठ है?) (छान्दोग्य. ५.१.७)।

प्राणाः – प्राण शब्द बहुवचन के रूप में प्रयुक्त हुआ है यहाँ पर इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, यह बात प्रस्तुत प्रकरण से स्पष्ट है। वाक् इत्यादि इन्द्रियों का प्रजापति के पास जाना और उनसे प्रश्न पूछना तभी सम्भव है, जब इन्द्रियाँ चेतन हों। अचेतन होने पर उनके द्वारा ये क्रियाएँ सम्भव नहीं हैं। इसलिए इन्द्रियों को अवश्य ही चेतन होना चाहिए। यह श्रुतार्थापत्ति ही यहाँ पर प्रमाण है, साक्षात् श्रुति नहीं, ऐसा समझना चाहिए।

शरीर में होने वाली हिलना–डुलना आदि क्रियाओं को देखकर ही शरीर में चैतन्य के अस्तित्व का बोध होता है। सुषुप्ति या मूर्छा में, जब इन्द्रियों का अभाव हो जाता है, शरीर भी बिल्कुल निश्चेष्ट हो जाता है, और जागरण काल में जब इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करने लगती हैं शरीर भी क्रियावान् हो उठता है और इस प्रकार शारीरिक क्रिया का इन्द्रियों के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होने से इन्द्रियाँ ही चेतन हैं, शरीर नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में शरीर रहने पर भी शारीरिक क्रिया लक्षित नहीं होती है।

५. प्राणात्मवादः – 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।'[८] इस अन्नरसमय शरीर से भिन्न इसके भीतर रहने वाला आत्मा प्राणमय है। (तैत्तिरीयोपषिद् २.२.१)।

यहाँ पर 'प्राण' शब्द मुख्य प्राण (Vital Principle) के लिए आया है। इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हो सकती हैं, क्योंकि इन्द्रियों की स्थिति तो प्राण के अधीन है। अन्न–जल के मिलने पर जब प्राण क्षीण होने लगता है, उस समय इन्द्रियाँ विद्यमान होने पर भी अपने अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं, और जब प्राण अन्न–जल के सेवन से पुष्ट हो जाता है, तो इन्द्रियाँ भी अपना काम करने लगती हैं, इसलिए प्राण ही आत्मा है।

६. मनात्मवाद – 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।'[९] तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली के तीसरे अनुवाक् में **'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'** यह श्रुति उपलब्ध होती है। ग्रन्थकार ने इस श्रुति को चार्वाक के मनश्चैतनवाद का आधार बताया है। इसका आधार एक युक्ति है – **'मनसि सुप्ते प्राणादेरभावात्'** अर्थात् बेहोशी में मन के सो जाने पर अर्थात् विलीन हो जाने पर प्राणादि का अभाव हो जाता है। दूसरी युक्ति है – जब हम स्वप्न देखते हैं या किसी की याद करते हैं, तो ये दोनों क्रियाएँ हमारे मन में ही होती हैं, और उस समय इन्द्रियों का अभाव रहता है, इसलिए मन ही आत्मा है।

७. विज्ञानात्मवाद – 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।'[१०] विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं

कि विज्ञान का रूप क्षणिक है। एक क्षण का विज्ञान नष्ट होकर दूसरे क्षण के विज्ञान तथा दूसरे क्षण का विज्ञान नष्ट होकर तीसरे क्षण के विज्ञान को जन्म देता है। इस प्रकार पूर्ववर्ती क्षण का विज्ञान नष्ट होकर आगामी क्षण के विज्ञान को निरन्तर जन्म देता रहता है। जैसे दीपक की लौ में प्रतिक्षण नई बत्ती और नया तेल जलता है। उसी प्रकार यह प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। अतः जिस प्रकार दीपक की ज्योति प्रतिक्षण बदलती हुई प्रतीत होती है उसी प्रकार विज्ञान भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। यहाँ ध्यातव्य है कि यहाँ बुद्धि पद से वेदान्तियों निश्चयात्मक वृत्ति को ग्रहण न कर विज्ञानवादियों के क्षणिक विज्ञान को ग्रहण किया जाना चाहिए।

विज्ञानवादी अपने इस मत में यह युक्ति देते हैं कि कर्ता के अभाव में करण की शक्ति का अभाव देखा जाता है जैसे कुल्हाड़ी चलाने वाले बढ़ई के अभाव में कुल्हाड़ी लकड़ी को नहीं काट सकती। उसी प्रकार विज्ञान (बुद्धि) के अभाव मन आदि इन्द्रियों के चिन्तन आदि व्यापार करने का सामर्थ्य नहीं हो सकता। मन आदि इन्द्रियाँ तो कुल्हाड़ी के समान करण मात्र है।

८. अज्ञानात्मवाद - 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः।'[११] प्रभाकर के अनुयायी (मीमांसक) और तार्किक (नैयायिक) आत्मा को द्रव्य मानते हैं जो जड़ अर्थात् चैतन्य अर्थात् ज्ञान से भिन्न अज्ञान है। यह मत अज्ञानात्मवाद कहलाता है। सुख का आश्रय कोई स्थायी कर्ता होगा, क्योंकि सुख शुभकर्म का उत्तरकालिक फल है। यह तो विदित है कि आनन्दमय कोश क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय की अपेक्षा अधिक आन्तरिक तथा सबका अधिष्ठान है। जाग्रत अवस्था में पाँचों अस्तित्व में रहते हैं। स्वप्न अवस्था में अन्नमय कोश अपने आश्रयभूत चारों कोशों में विलीन हो जाता है (प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय) तथा सुषुप्ति में तीनों कोश (प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय) अपने आश्रयभूत आनन्दमय कोश में विलीन हो जाते हैं। सुषुप्ति (निद्रा/ बेहोशी) में केवल आनन्दमय कोश शेष रहता है। उस समय अर्थात् सुषुप्ति में किसी भी वस्तु का ज्ञान न होने से समस्त विश्व का ज्ञान-अज्ञान में विलीन हो जाता है। जिससे आनन्दमय कोश अज्ञानमय सिद्ध होता है। अतः अज्ञान ही आत्मा है।

९. प्रज्ञानात्मवाद - 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः।'[१२] कुमारिलभट्ट के मतानुयायी मीमांसक आत्मा को प्राभाकर मीमांसक के विपरीत अज्ञान की अपेक्षा अज्ञानोपहित चैतन्य मानते हैं। उनके अनुसार न तो आत्मा जड़ है न ही शुद्ध चैतन्य। भाट्टों के इस मत के समर्थन में जो माण्डूक्योपनिषद् श्रुति उद्धृत की गई है उसका तात्पर्य है कि "जो प्रज्ञानघन है वही आत्मा है।" प्रज्ञानघन का अर्थ है- वृत्यात्मक ज्ञान का घनीभूत होना। प्रज्ञान की घनता है- चैतन्य का प्रमाण-जन्य बुद्धियों से मुक्त होकर शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित होना। प्रज्ञान की यह घनता मनुष्य के सुषुप्तिकाल में सम्पन्न होती है जब सभी प्रमाण व्यापार विरत हो जाते हैं।। जागरण काल की अपेक्षा स्वप्न अवस्था में भी ज्ञान की घनता होती है; क्योंकि उस समय केवल मनोजन्य व्यापार का उदय होता है, क्योंकि इन्द्रिय जन्य व्यापार से मुक्त होता है उस समय चैतन्य आत्मा। जागरण एवं स्वप्न काल में होने वाले मन के स्फुरण को प्रज्ञान कहते हैं। सुषुप्ति प्रज्ञान की घनीभूतावस्था

है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में विभिन्न वस्तुएँ एक होकर अपृथक् जान पड़ती है। ठीक वैसी ही अवस्था सुषुप्ति के प्रज्ञानघन की है। मन का जो विषय-विषयी रूप से आयास का दुःख है उसका सुषुप्ति में अभाव होने से प्रज्ञानघन आनन्द प्रचुर है। इससे दुःख का अल्पत्व ही सूचित होता है अभाव नहीं; क्योंकि दुःख का कारण अज्ञान तो विद्यमान रहता ही है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रज्ञानघन रूप सुषुप्ति की अवस्था में किसी वस्तु ज्ञाता-ज्ञेय के रूप में ज्ञान तो नही रहता परन्तु चैतन्य तो रहता ही है।

१०. शून्यात्मवाद- असदेवेदमग्र आसीत्[१३] माध्यमिक बौद्धों के अनुसार आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। आत्मा का लक्षण पूछे जाने पर वे उसे शून्य बताते हैं। शून्य का अर्थ है द्रष्टा और दृश्य का सर्वथा अभाव। इसके अनुसार आत्मा न द्रव्य रूप नाही बोध रूप ना ही द्रव्य बोधात्मक प्रत्युत्सर्वा-भावरूप है।

यह जो श्रुति छान्दोग्योपनिषद् की उद्धृत की है ''**असदेवेदमग्र आसीत्**'' (छा. उ. ६.२.१) ''उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् एकमात्र असत् अर्थात् सत् का अभाव मात्र ही था। उस असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। इसके आगे वाले वाक्य में ''**कुतस्तु खलु सौम्येवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति**'' अर्थात् हे सौम्य! ऐसा कैसे हो सकता है कि भला असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो है। यह कहकर इस मत का निषेध कर दिया गया है। इस प्रकार श्रुति के अग्रिम वाक्य से समर्तित वाक्य निरस्त हो जाता है। किन्तु बौद्धों ने अपनी सुविधा के लिए इसका सहारा लिया है जबकि श्रुति को यह मत अभीष्ट नहीं है।

११. अद्वैतसम्मतआत्मतत्त्वकीसिद्धि -पुत्रादि का आत्मत्व प्रमाणित करने के लिए जो श्रुतिवाक्य उद्धृत किए गए हैं, उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, इसलिए वे श्रुति के आभासमात्र हैं, यह बात बताई जा चुकी है । अब ऐसी प्रबल और असन्दिग्ध अर्थवाली श्रुतियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जो पूर्वोक्त श्रुत्याभासों को पूर्णतया बाधित कर देती हैं, और आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करती हैं । मूल में ये श्रुतियाँ अत्यन्त संक्षिप्तरूप से दी गई हैं - '**प्रत्यक्**', '**अस्थूलः**' '**अचक्षुः**', '**अप्राणः**', '**अमनाः**', '**अकर्त्ता**', '**चैतन्यम्**', '**चिन्मात्रम्**', **और** '**सत्**'। इन श्रुतियों का अक्षर विन्यास क्रमशः इस प्रकार है- '**कश्चिद्धिरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्**' (कथा. २.१.१) यह श्रुति '**प्रत्यक्**' शब्द से '**आत्मा वै जायते पुत्रः**' इस श्रुति का बाध करती है, क्योंकि '**प्रत्यक्**' का अर्थ है- सर्वान्तर, अर्थात् सबकी अपेक्षा आन्तरिक, और पुत्र तो प्रत्यक्ष ही 'पराक्' (बाह्य) है, अतः पुत्र कैसे आत्मा हो सकता है ? '**अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्**' (बृहद्. ३.८.८) यह श्रुति '**अस्थूल**' शब्द से '**स व एष पुरुषोऽन्नरसमयः**' इस श्रुति के द्वारा गृहीत स्थूलशरीर के आत्मत्व का बाध करती है। '**अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्**'' (मुण्डक. १.१.६) यह श्रुति '**ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः**' इस श्रुति से गृहीत चक्षु आदि इन्द्रियों के आत्मत्व का बाध करती है। '**अप्राणो ह्यमनाः शुभः**' (मुण्डक. १.१.२) यह श्रुति '**अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः**' और '**अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः**' इन दोनों श्रुतियों को बाधित करती है।

'**अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता**' (श्वेता. १.९) यह श्रुति '**अकर्त्ता**' पद से '**अन्योऽन्तर विज्ञानमयः**' इस श्रुति से गृहीत बुद्धि या क्षणिक विज्ञान के आत्मत्व का निराकरण करती है। '**न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्**' (कैवल्य. २१) यह श्रुति '**चिन्मात्र**' शब्द से '**प्रज्ञानघन एवानन्दमयः**' इस श्रुति से गृहीत 'अज्ञानोपहित चैतन्य' के आत्मत्व का निषेध करती है। '**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**' (छान्दोग्य. ६.२.१) यह श्रुति 'सत्' पद से '**असदेवेदमग्र आसीत्**' इस श्रुति को बाधित करती है।

परिमाण तीन प्रकार का होता है– अणु, मध्यम और परममहत्। आत्मा का परिमाण अणु नहीं हो सकता है, क्योंकि अणु होने से चैतन्य की उपलब्धि सम्पूर्ण शरीर में नहीं हो सकेगी। मध्यम परिमाण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उस स्थिति में सावयव होने से उसके अनित्य होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। ब्रह्मसूत्र में '**एव चात्मा कात्स्र्यम**' (२. २. ३४) इस सूत्र से आत्मा की मध्यमपरिमाणता का खण्डन भी किया गया है। परममहत् परिमाण भी असम्भव है, क्योंकि तब आत्मा का उत्क्रमण, गमन और आगमन बताने वाली श्रुतियों से विरोध होगा। अब आप बताइए, प्रत्यगात्मा का परिमाण क्या है?

उत्तर– आत्मा का स्वभाव अखण्ड ब्रह्मरूप होने से, '**स व एष महानज आत्मा**' (बृहदारण्यक. ४.४.२२) इत्यादि श्रुतियों से आत्मा का परिमाण परममहत् ही सिद्ध होता है। आत्मा का स्वभाव अखण्ड ब्रह्म होता है, इस कथन का तात्पर्य यह है – '**वृद्धि**' अर्थवाली '**बृही**' धातु से '**ब्रह्मन्**' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है– 'बड़े से बड़ा अर्थात् सर्वव्यापक'। ऐसा ब्रह्म स्वगत सजातीय और विजातीय भेदों से रहित होने के कारण 'अखण्ड' कहा जाता है। प्रत्यगामा भी यही अखण्ड ब्रह्म है। '**बृहत्त्वाद बृहणत्वाद्वात्मैव ब्रह्मेती गीयते**' से ब्रह्म और प्रत्यगामा का अभेद सिद्ध होता है। इसलिए जो ब्रह्म का स्वभाव है, वही प्रत्यगामा का स्वभाव है। प्रत्यगामा की ब्रह्मरूपता 'प्रवेश' विषयक श्रुतियों से सिद्ध होती है– '**तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्**' (तैत्ति. २.६.१), '**स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः**' (बृहदा. १.४.७), '**अनेन जिवेनात्मनानुप्रविश्य**' (छान्दोग्य. ६.३.२), '**सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते**' (तैत्ति. आ. ३.१२.७), '**एको देवा बहुधा सन्निविष्टः**' (तैत्ति. आ. ३.१४.१), '**पुरश्चक्रे चतुष्पदः।**' '**पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्।**' (बृहदा. २.५.१८), '**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**' (बृहदा. २.५.१९), इत्यादि। गीता (१०.२०) में प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन किया गया है– '**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**' (१०.२०), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृर्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (१८.६१), '**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत**' (१३.२) इत्यादि। इससे आत्मा का परममहत् परिमाण ही सिद्ध होता है। संसारित्व की अवस्था में शरीरादि उपाधियों के कारण आत्मा का परिमाण परिच्छिन्न प्रतीत होता है और उपाधियों के अनुरूप होने के कारण अनियत है। इसी कारण श्रुतियों में विभिन्न स्थलों पर उपाधि के अनुरोध से आत्मा के विभिन्न परिमाण बताए गए हैं।

नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन सयुज्यते।।

उपसंहार-

प्रत्यगात्मा वह चैतन्य है जो बुद्धि, मन, इंद्रियों, शरीर और जगत् का साक्षी तथा अधिष्ठान है। यह सबसे आंतरिक है। आत्मतत्त्व को समझने के लिए अरुंधती प्रदर्शन न्याय (स्थूल से सूक्ष्म का बोध) और मुंजादिषी का ग्रहण न्याय (आवरण हटाकर आत्मा का दर्शन) जैसे तर्क प्रयुक्त होते हैं। विभिन्न दार्शनिक मतों ने पुत्र, देह, इंद्रिय, प्राण, मन, विज्ञान, अज्ञान और शून्य को आत्मा माना, पर अद्वैत वेदांत इन सबका खंडन करता है। अद्वैत के अनुसार, आत्मा अखण्ड ब्रह्मरूप है, परममहत् परिमाण वाला शुद्ध चैतन्य है।

सन्दर्भ

१. कठोपनिषद्, १.१.१
२. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, १.१.८
३. पञ्चदशी, १.४२
४. वेदान्तसार (सदानन्दयोगीन्द्रकृत)।
५. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.१.१
६. बृहदारण्यकोपनिषद्, २.४.५
७. छान्दोग्योपनिषद्, ५.१.७
८. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.२.१
९. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.३.१
१०. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.४.१
११. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.५.१
१२. माण्डूक्योपनिषद्- ५
१३ छान्दोग्योपनिषद्, ६.२.१

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- कठोपनिषद्, स्वामी गम्भीरानन्द अनूदित, अद्वैत आश्रम, २००६
- ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य), स्वामी गम्भीरानन्द द्वारा अनूदित, अद्वैत आश्रम, १९९७
- विद्यारण्यमुनि, पञ्चदशी, स्वामी स्वाहानन्द द्वारा अनूदित, श्रीरामकृष्ण मठ, १९९३
- सदानन्द, वेदान्तसार, स्वामी निखिलानन्द द्वारा अनूदित, श्रीरामकृष्ण मठ, १९८५
- तैत्तिरीय उपनिषद्, स्वामी गम्भीरानन्द द्वारा अनूदित, अद्वैत आश्रम, २००६
- बृहदारण्यकोपनिषद्, स्वामी माधवानन्द द्वारा अनूदित, अद्वैत आश्रम, २००८
- छान्दोग्य उपनिषद्, स्वामी गम्भीरानन्द द्वारा अनूदित, अद्वैत आश्रम, २००३
- माण्डूक्योपनिषद् (गौड़पादकारिका सहित शाङ्करभाष्य), स्वामी निखिलानन्द द्वारा अनूदित, अद्वैत आश्रम, २०००

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

आचार्यरामाशीषपाण्डेयविरचितशिखाबन्धननाटकस्य समीक्षणम्

मधुमिता दासः*

प्रस्तावना– संस्कृतसाहित्ये सहृदयाह्लादकमयकाव्यं प्रधानं भवति। तच्च काव्यं द्विविधम्– दृश्यं श्रव्यञ्चेति। श्रव्यं महाकाव्य–खण्डकाव्य–गीतिकाव्यादिभिः भेदैः बहुविधम्। दृश्यकाव्यम् अभिनयप्रधानं भवति। दृश्यकाव्यस्य नामान्तरं रूपकम् इति। तच्च दशधा दशरूपके धनञ्जयेन प्रोक्तम्। यथा–

नाटकं सप्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।[१]

भारतीयनाट्यसाहित्यस्य स्वतन्त्रधारा सर्वदा सुचारुतया प्रवहति स्म। वैदिककालात् आरभ्य संवादः, संगीतम्, नृत्यम्, अभिनयः – इत्यादिनि नाटकस्य सर्वाणि तत्त्वानि केनचित् प्रकारेण वा प्रतिबिम्बितानि सन्ति। संस्कृतसाहित्ये लोकप्रियत्वदृष्ट्या आलोच्यते चेत् नाटकसाहित्यस्य मूर्धन्यभूतं स्थानं वर्तते। दृश्यकाव्यस्य महत्त्वं नाट्यशास्त्रे भरतमुनिना ग्रथितं यथा–

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।।[२]

संस्कृतसाहित्यजगति नाटकसाहित्यं प्रधानाङ्गरूपत्वेन विराजते। लोकप्रियत्वदृष्ट्या यदि परिशीलयामस्तर्हि संस्कृतसाहित्ये नाटकानि उच्चस्थाने प्रकाश्यन्ते। संस्कृतनाटकानि वेदानां मानवानाञ्च आदर्शजीवनं चित्रकुर्वन्ति। संस्कृतनाटकेषु नायकः धीरोदात्तः सर्वगुणसम्पन्नः, आदर्शप्राप्तौ, देवानतिरिच्यापि साहसकरणे समर्थः भवति। विश्वनाथ कविराजः स्वस्य साहित्यदर्पण ग्रन्थे रूपकस्य दशप्रकारेषु सर्वप्रथमं 'नाटकम्' इत्यस्य रूपकप्रकारस्य वर्णनं विस्तरेण वर्णितमस्ति। नाटकस्य वृत्तं (कथा) ख्यात रामायणादि इतिहासे प्रसिद्धं भवेत्। या कथा केवलं कविकल्पितः, इतिहासः सिद्धः नास्ति, तत् नाटकं न भवितुमर्हति। नाटकै विलाससमृद्धेः गुणस्य तथा अनेकप्रकारस्य ऐश्वर्यस्य च वर्णनं करणीयम्। सुखस्य दुःखस्य च उत्पत्तिः दर्शनीया, तत् च बहुभिः रसैः सह सम्पन्नं कर्तव्यम्। अस्य पञ्चतः दशपर्यन्तम् अङ्काः सन्ति–

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धि समन्वितम्।
विलासद्धैर्यादिगुणावद्युक्तं नानाविभूतिभिः।।

* साहित्यविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः।

सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।।[३]

संस्कृतनाटकानि प्रधानतया सव्याख्यानां, धर्माधर्माणां, विषये देवासुरपराक्रमसङ्घर्षणानि चित्रीकुर्वन्ति। अन्तिमे सत्यस्य, धर्मस्य दैवतस्य च विजयप्राप्तिं नाटककाराः दर्शयन्ति। उत्तमानुत्तमयोर्मध्ये घर्षणं भारतीयाः चित्रीकुर्वन्ति। भारतीयसंस्कृतनाटकानि प्रेक्षकान् धार्मिकनैकरीत्या च उन्नतमानं कृत्वा धर्मार्थकाममोक्षाणां समसाधने उपयोगकरणानि भवन्ति।

कविपरिचयः काव्यपरिचयश्च- आधुनिक संस्कृतसाहित्यस्य क्रान्तदर्शी कविः डॉ. रामाशीषपाण्डेयमहोदयः विहारराज्यस्य गयाजिलायाः छोटियाग्रामे चतुश्चत्वारिंशताधिकैकोनविंशशततमे ईशवीयाब्दे जुलाईमापसस्य सप्तमदिनाङ्के (०७.०७.१९४४) अजायत। कविः स्वग्रामस्य परिचयं स्वीयपुस्तके एवं लिखति-

विहारराज्ये विख्याते, गयायां मण्डले शुभे।
ग्रामोऽस्ति छोटिया नाम, वसन्ति यत्र श्रोत्रियाः।।
श्रोत्रिया वत्सगोत्रस्था, यज्ञकर्मणि संरताः।
श्रोत्रियाच्छोटिया जाता, विश्रुता मण्डलेऽखिले ।।
मगधेषु प्रसिद्धोऽस्ति, पञ्चक्रोशेषु चोत्तमः।
धनधान्यसमृद्धोऽस्ति, दिव्यशोभाविभूषितः।।[४]

कविः निरलससारस्वतसाधनेन बहूनि काव्यनाटकानि हिन्दीभाषया संस्कृतभाषया च व्यरचयत्। इदानीं यावत् पञ्चत्रिंशदधिकशतम् (१३५) कवितां रचितवान्। त्रीणि नाटकानि रचितानि। नाटकत्रयम् - शिखाबन्धनम्, कर्णार्जुनीयम्, कुमारविजयम् च। तेषु कवेः विरचितं षडाङ्कात्मकं शिखाबन्धमिति नाटकं सहृदयसमाजे प्रभतेतराम्।

सारसङ्क्षेपः- 'शिखाबन्धनम्' इति षडाङ्कानां संस्कृतनाटकम्। चाणक्यचन्द्रगुप्तयोः ऐतिहासिककथा तत्र वर्णिता। भारतीयेतिहासे चन्द्रगुप्तमौर्यस्य स्थानं महत्त्वपूर्णम् अस्ति। चाणक्यस्य शिखाबन्धनेन चाणक्यस्य दृढप्रतिज्ञा आसीत्। चाणक्यः नन्दराज्ञा अवहेलितः शिखाम् उद्घाट्य प्रतिज्ञां करोति यत्- **'यावत् नन्दस्य नाशो न भविष्यति अत्रकल्याणकारिणो राज्ञः नियुक्तिश्च न भविष्यति तावदियं शिखा कालसर्पिणीभूता विचरिष्यति।'** चन्द्रगुप्तः नन्दराज्ञः स्थाने सिंहासनम् आरोहति। तदैव चाणक्यस्य मुक्तशिखा बद्धा भवति। अस्याः मुक्तशिखायाः बन्धनस्य आधारेण एतत् नाटकं निर्मितम्।

नाटके विद्यमानानां चरित्रचित्रणम्

चाणक्यः - शिखाबन्धननाटकस्य नायकः चाणक्यः भवति। चाणक्यः मौर्यवंशस्य प्रभमराजा चन्द्रगुप्तस्य मन्त्रीसहायकः च आसीत्। सः स्वाधीनमना, महापराक्रमी, धैर्यवान्, जितेन्द्रियः, प्रखर- प्रतिभासम्पन्नः, नीतिनिष्णातः, श्रेष्ठ-वकृत्व-सम्पन्नः च आसीत्। सः सर्वदा

सत्यम् आश्रित्यव्यवहरति। चाणक्यः राष्ट्रकल्याणकारः आसीत्। दर्भोन्मूलने लीनः आश्रमे चाणक्यस्य प्रवेशानन्तरम् आश्रममाता वदति यत् अवश्यमेव अयं छात्रः परमं तेजस्वी अस्ति यः विघ्नानां चिन्ता न कृत्वा सर्वाणि कार्याणिसम्पन्नं करिष्यति। ततः कुलपति कथयति – **'राष्ट्रकल्याणमेतादृशेनैव संभाव्यते। चिरंजीवतु।'**[५]

अस्मिन् प्रसङ्गे चाणक्येन एकं श्लोकं उक्तम्

दर्भाङ्कुराणि वनमध्यगतानितीक्ष्णा-
न्याभान्ति शत्रु सदृशानि तिरोहितानि।
पादान् विभिद्य रुधिरार्द् मुखानि भूत्वा
कष्टं किरन्ति सततं किल जीवलोके।।[६]

यदा राजानन्दः राजभवने पण्डितानां कृते सम्मानसमारोहस्य आयोजनं कृतवान्, तदा राजा नन्दस्य मन्त्री तत्र गत्वा चाणक्यं निमन्त्रितं कृतवान्। परन्तु चाणक्यस्य नीतिः राजाज्ञा पालनीया इति। अतः सः राजभवने उपस्थितः आसीत्। अतः तत्रावश्यमुपस्थातव्यम् इति मन्यते। यतोहि–

प्रजानामिह सम्बन्धः राज्ञा तावच्च भूतले।
यावद्राज्यासनस्थोऽसौ राजते राजमण्डले।।

तथा च

धर्मशून्योऽपि यो राजा नीतिशून्यो नृपासने।
यावत्तिष्ठति सम्बन्धः प्रजायास्तेन निश्चितः।।[७]

चाणक्यः एकः आदर्शगुरुः आसीत्, तत् अस्मिन् नाटके दर्शितः अस्ति। चाणकास्याश्रमस्तु सामान्याश्रमः। तत्रानुग्रहराशिः राज्येन स्वीकृता आसीत्। परन्तु तस्यानुग्रहानुदानमपि स्थगितमस्ति। तदपि तत्र शिक्षायाःव्यवस्था सम्यकासीत्। तस्मिनाश्रमे ज्ञानं मुख्यं लक्ष्यम् आसीत्।

अस्मिन् प्रसङ्गे श्रुतिधरस्य श्लोकं वर्तते

ज्ञानार्जनमिहास्माकं लक्ष्यं सततमाश्रमे।
प्राप्नुमस्तत्र श्रेयांसि प्रेयांसि क्षणिकाणि वै।।[८]

तत्र चाणक्यः अर्थशास्त्रस्य उपदेशं ददाति, यस्मिन् राज्यकार्यक्रमस्य सर्वासु नीतिषु विशेषविमर्शः भवति। मूलतः सैद्धान्तिकी व्यावहारिकी शिक्षायाः इदमेव राज्यकल्याणमूलं शास्त्रम् अर्थशास्त्रम्। अस्यामर्थनीति, राजनीतिदण्डनीति प्रभृतयो विषयाः प्रामुख्येन प्रतिपादिताः। अस्मिन् प्रसङ्गे चाणक्यः कथयति– **'अस्य अनेकेप्रतयः शोभनैरक्षरैः लसन्तीति दृष्टा नवजात पुत्रस्य स्पर्शसुखमिवानुमवामि। भवद्भिः एतादृशी शिक्षा लब्धा। व्यावहारिक जीवनेऽपि एतादृशमेवाचरणीयम्।'**[९]

राजानन्द– शिखाबन्धननाटके राजानन्दः सिंहासने उपविष्टः आसीत्। सः प्रजाहितैषी नासीत्।

ब्राह्मणानां प्रति अनादरं कृतवान्। राजसभायां राजा न्यायविचारं न कृतवान्, अस्मिन् नाटके तान् विषयान् दर्शितः। भृत्यः राजसिंहासनस्य अधोभागे पिञ्जरं स्थापयित्वा एकं पत्रं राजानं प्रयच्छति। पत्रं पठित्वा राजानन्दः सभां सम्बोधयति। अयं विशालकायः सिंहः पिञ्जरे बद्धो वर्तते, अनुद्घाटिते द्वारे वहिः कर्तव्यः इति कथ्यते। यः अयं सिंहं द्वारं न उद्घाट्य वहिः निष्कासयति, तस्मै राजसिंहासनं दास्यति। एकः बालकः सहसा उत्थाय पिञ्जरस्य निकटे गत्वा निपुणं निरीक्ष्य सिंहोऽयं लाक्षया निर्मितः इति अवगच्छति। तप्तलौहदण्डेन सिंहं स्पृशति ततः लाक्षामयः सिंहः उष्णाधिक्यात् द्रवीभूय वहिः पतितः, तदा राजा ज्ञायते यत्- एषः बालकः मुरायाः पुत्रश्चन्द्रगुप्तः। सिंहासनं दातुं न तु तम् अवज्ञाय निष्कासयति। शिक्षाक्षेत्रे राज्ञः दृष्टिः उदारपूर्णा नास्ति। तस्मिन् समये नन्दस्य राज्ये नन्दराज्ञः विरुद्धे दुःखितानां कृषकाणामान्दोलनं, छात्राणामान्दोलनं, शिक्षकाणां राज्यकर्मचारिणामान्दोलनं किमुत सेनायामपि आन्दोलनमारप्स्यते। राजानन्द स्वयमेव विलासितायां मग्नः आसीत्। प्रायः नृत्यं, संगीतम् इत्यादयः संगठिताः भवन्ति तथा च राज्ञे तस्मै रोचते। राजा सुरसुन्दरी सेवमाने मग्नः तिष्ठति, तथा च राज्यस्य उपेक्षां करोति च। एतेन ज्ञायते यत्- राजा स्वराज्यस्य प्रगतिविषये च्तिामग्नः नासीत्।

चन्द्रगुप्तः- मुरायाः पुत्रश्चन्द्रगुप्तः अस्मिन्नाटके प्रतिनायकः भवति। चन्द्रगुप्तमौर्यः प्राचीनभारतस्य इतिहासे एकः महत्त्वपूर्णः अतीव बुद्धिमान् सम्राट् आसीत्। एकदा राजा नन्दस्य सभायाः चन्द्रगुप्तस्य बुद्धिं प्रवर्तयति स्म। राजा उक्तवान् यत्- ''**कोऽपि अस्यां सभायां तीक्ष्ण बुद्धिः य एनं अनुद्घाटिते द्वारे बहिः करिष्यतीति।**''[१०] तदा चन्द्रगुप्तः सहसा उत्थाय चिञ्जरस्य निकटे गत्वा निपुणं निरीक्ष्य कथयति यत्- '**अहं एनं सिंहम् अनुद्घाटितेऽपि द्वारे वहिः करिष्यामि।**'[११] तदा मौर्य तप्तलौहदण्डेन सिंहं स्पृशति ततः लाक्षामयः सिंहः उष्णाधिक्यात् द्रवीभूय बहिः पतितः। एवं दृष्टा सर्वे वदन्ति- सत्यं बुद्धिमान् अयं बालकः, तेजस्वी च। चन्द्रगुप्तस्य राज्ञः सर्वाणि गुणानि सन्ति। चन्द्रगुप्तः राज्ञः भूमिकां निर्वहन् प्रत्येकदिशि सेनापतयः स्वस्यदिशारक्षणविषये प्रश्नान् पृच्छति। एतत् दृष्ट्वा चाणक्यः मनसि चिन्तयति यत् अस्य बालकस्य निकटे सर्वेऽपि राज्ञः गुणाः सन्ति। एतादृशः बालकः एव अस्य राष्ट्रस्य शासको भवितुमर्हति। चाणक्यस्य गुरुकुलतः अर्थशास्त्रं, अर्थनीतिः, राजनीतिः, दण्डनीति इत्यादीनाम् अध्ययनं कृत्वा राष्ट्रस्य शासनार्थं सवाणि शास्त्राणि ज्ञातवान्। चाणक्यस्य राष्ट्रे शासनं कर्तुं सर्वाः गुणाः आसन्। अतः चाणक्यस्य महता प्रयासेन चन्द्रगुप्तः पाटलिपुत्रस्य सिंहासने राजा अभवत्। सः विश्वस्थः, गुरुभक्तः, राष्ट्रस्य शासनविषये अतीव बुद्धिमानः च आसीत्।

निष्कर्षः- मुद्राराक्षसः अर्थशास्त्रः इत्यादिषु नाटकेषु चाणक्यः नायकः इति प्रसिद्धः आसीत्। एतेषु नाटकेषु चाणक्यः राष्ट्रशासनविषये अतीव चिन्तितवान्, बहु कार्यं कृतवान् च। आचार्यरामाशीषपाण्डेयमहोदयः चाणक्यस्य सर्वैः नाटकैः प्रभावितः भूत्वा एतत् नाटकं रचितवान्। यस्मिन् राष्ट्रस्य सञ्चालनं कथं करणीयमिति प्रदर्शयितुं प्रयासः कृतः।

उल्लेखपञ्जिः

१. दशरूपकम्, प्रथमः प्रकाशः, श्लोकः- ८
२. नाट्यशास्त्रम्, प्रथमोऽध्यायः, श्लोकः- ११४
३. साहित्यदर्पणः, षष्ठः परिच्छेदः, श्लोकः- ७
४. शिखाबन्धनम्, पृष्ठ- ९१
५. शिखाबन्धनम्, पृष्ठ- ९
६. शिखाबन्धनम्, पृष्ठ- १२
७. शिखाबन्धनम्, पृष्ठ- २१
८. शिखाबन्धनम्, पृष्ठ- ६०
९. शिखाबन्धनम्, पृष्ठ- ६५
१०. शिखाबन्धनम्, पृष्ठ- २६
११. शिखाबन्धनम्, पृष्ठ- २७

परिशीलितग्रन्थपञ्जिः

- मुसलगाँवकर, डॉ. केशवराव, दशरूपकम्, वाराणसी, चौखम्भा प्रकाशन, २०२०
- शास्त्री, श्रीबाबूलाल शुक्ल, नाट्यशास्त्रम्, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, २०२०
- मुखोपाध्याय, डॉ. विमलाकान्त, साहित्यदर्पणः, संस्कृत पुस्तक भाण्डारः, २०१३
- पाण्डेय, डॉ. रामाशीष, शिखाबन्धनम्, प्रबोध संस्कृत प्रकाशनम्, २०२२

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

उपनिषत्साहित्ये मानवतावादः

Moumita Mondal*

सारसंक्षेपः- ऋग्वैदिककालादेव भारतीयसंस्कृतौ शिक्षायां परम्परायाञ्च मानवतावादस्य प्रचलनं दृश्यते। मानवतावादः इत्यनेन मनुष्यत्वसम्बन्धिता दयादिमनुष्योचितगुणसम्बन्धिता मानवधर्मसम्बन्धिता वेति एतादृशी मानविकी दृष्टिभङ्गी नीतिर्वा अवगम्यते। अनेनैव मानवसमाजस्य उन्नतिः भविष्यति। वस्तुतः मानवतावादः आङ्गलभाषायाम् "Humanism" इति कथ्यते। यस्मिन् मनुष्याणां मनुष्यता अधिकगुरुत्वं प्राप्यते तत्र भवति मानवतावादः। अस्य मानविकमूल्यबोधस्य शिक्षा ददाति भारतीयशास्त्राणि। शास्त्रस्य कार्यम् एव भवति निषेधकर्मतः प्रवृत्तकर्मे आनयनमाध्यमेन चित्तशुद्धिः। किञ्च मानवताबोधस्य शिक्षा शास्त्रेणैव उपलभ्यते। तेन मानवताबोधेन एव वयं समाजस्य श्रेष्ठतमः जीवः। मानवताबोधस्य सर्वोत्कृष्टः दृष्टान्तः भवति-

''अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।'' इति।

अनया धारणया यद् ज्ञानं प्रतिष्ठितं तन्मानवताशिक्षा इत्युच्यते। मानवजीवनस्य नीतिगतबोधः एव मानवताशिक्षा। सम्पूर्णसंस्कृतवाङ्मये न केवलं भारतीयानां कृते अपि च जगतः सर्वेषां कृते मानवतायाः मार्गं सुप्रशस्तं कृतम्। अनेनैव समस्तजीवस्य कल्याणं भवति। तच्चोच्यते-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्।। इति।

एवम् उपनिषदि प्रतिपादितः मानवतावादः एव अस्मिन् शोधप्रबन्धे मया विवेचितः।

कुञ्चिकाशब्दः - मानवतावादः, उपनिषदि मानवतावादः, भारतीयचिन्तानधारायां मानवतावादस्य उद्भवः, मानवकल्याणम्।

संस्कृतवाङ्मयः भवति सुविस्तृतं सुविशालं च। अयमेव विश्ववाङ्मयस्य प्रतिनिधित्त्वं करोति। अस्मिन् लौकिकवैदिकभेदेन भागद्वयं दृश्यते। तत्र वैदिकसाहित्ये आरण्यकब्राह्मण-उपनिषदादि भवन्ति। किञ्च लौकिकसाहित्ये महाकाव्यगीतिकाव्यनाटकादि वर्तते। साहित्यं भवति समाजस्य दर्पणम्। तदुक्तम् भर्तृहरिणा-

''साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानः तद्भागधेयं परमं पशूनाम्।।''[१] इति।

* Assistant Professor, Department of Sanskrit, Krishnagar Government College Nadia, West Bengal

एवं साहित्येनैव समाजस्य जातेः वा मानवतायाः पूर्णविकासः अभवत्। मानवतावादः इत्यनेन मनुष्यत्वसम्बन्धिता दयादिमनुष्योचितगुणसम्बन्धिता मानवधर्मसम्बन्धिता वेति एतादृशी मानविकी दृष्टिभङ्गी नीतिर्वा अवगम्यते। अनेनैव मानवसमाजस्य उन्नतिः भविष्यति। वस्तुतः मानवतावादः आङ्गलभाषायाम् "Humanism" इति कथ्यते। यस्मिन् मनुष्याणां मनुष्यता अधिकगुरुत्वं प्राप्यते तत्र भवति मानवतावादः। ऋग्वैदिककालादेव भारतीयसंस्कृतौ शिक्षायां परम्परायाञ्च अस्य मानवतावादस्य प्रचलनं दृश्यते। मानवजीवनस्य अङ्गः भवति मानविकमूल्यबोधः। अस्य मानविकमूल्यबोधस्य शिक्षा ददाति भारतीयशास्त्राणि। शास्त्रस्य कार्यम् एव भवति निषेधकर्मतः प्रवृत्तकर्मे आनयनमाध्यमेन चित्तशुद्धिः। किञ्च मानवताबोधस्य शिक्षा शास्त्रेणैव उपलभ्यते। तेन मानवताबोधेन एव वयं समाजस्य श्रेष्ठतमः जीवः। मानवताबोधस्य सर्वोत्कृष्टः दृष्टान्तः भवति–

''अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।'' इति।

अनया धारणया यद् ज्ञानं प्रतिष्ठितं तन्मानवताशिक्षा इत्युच्यते। मानवजीवनस्य नीतिगतबोध एव मानवताशिक्षा। सम्पूर्णसंस्कृतवाङ्मये न केवलं भारतीयानां कृते अपि च जगतः सर्वेषां कृते मानवतायाः मार्गं सुप्रशस्तं कृतम्। अनेनैव समस्तजीवस्य कल्याणं भवति। तच्चोच्यते–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्।। इति।

भारतीयचिन्ताधारायां मानवतावादस्य उद्भवः– भारतीयदर्शनस्य सर्वोत्कृष्टः विषयः भवति मानवतावादः। मानवतावादः नाम एकः आध्यात्मिक–आत्मोपलब्धिः, यस्य मूले भवन्ति मनुष्याः। मानवतावादस्य जन्म जातः भारतीयचिन्तनधारायां, यस्य मूले आसीत् उपनिषद्। उपनिषदः ज्ञानयोगेन एव मानवजातेः अन्तर्निहितत्यागशक्तेः जागरणं भवति। अस्माद् एव समीचीनासमीचीनविषये ज्ञानं भवति। उपनिषदः मानवतावादस्य मूलं भवति सर्वैक्यं किञ्च सर्वमानवेषु समदृष्टिः। एक्यैबोधस्य उपदेशः उपनिषदि यथा वर्णितं तथा अन्ये देशे अन्ये शास्त्रे वा न वर्णितम्। तत्र ईशावास्योपनिषदि त्यागभावेन सर्वेषां सेवा करणीया किञ्च कस्यापि धनं मा गृधः इत्यादि मानविकमूल्यबोधस्य शिक्षां ददाति। तच्च–

''ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।''[२] इति।

एवं उपनिषदि सत्यानुसन्धानमाध्यमेन विश्वं प्रति मानवतावादस्य प्रकाशः दृश्यते। तत्र सत्यानुसन्धानं कथं क्रियते इति चेदुच्यते **'भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य'**[३] इति। अर्थात् सर्वभूतेषु तं चिन्तयित्वा दृष्ट्वा च सत्यानुभवः करणीयः। एवं सर्वेषां प्रति यदैक्यानुभूतिः सैव मानवतावादस्य

चरमो पन्था। किञ्च मानवतावादस्य अपरः मार्गः जीवेषु सेवा, तद्वर्णयन्ति '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः...**' इत्यादिना। अर्थात् जीवेषु सेवा क्रियते चेदपि स्वार्थं त्यक्त्वा परमेश्वरस्य सेवानिमित्तं करणीयम्। तेन तत्कर्म मनुष्ये न लिप्यते। अर्थात् कर्मफलाभिलाषी न भूत्वा करणीया इति। एवं श्रीमद्भगवद्गीतायाम् अपि भगवता श्रीकृष्णेन प्रतिपादितः–

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।[४]
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।[५] इति।

किञ्च अस्मिन् ईशावास्योपनिषदि एव सर्वभूतेषु ऐक्यदृष्टिः प्रतिपादिता। अत्र सर्वभूतेषु आत्मवत् दृष्टिः प्रतिपादिता। तेन आत्मभिन्नः न भवति कोऽपि। अतः अन्नेषु क्रोधद्वेशादि अमानविकताबोधः कार्यं न करोति।

किञ्च केनोपनिषदि अपि दृश्यते यत् देवतानां मिथ्याभिमानस्य दूरीकरणार्थं परब्रह्म परमात्मा यक्षरूपेण आविर्भूतः। तेन अग्न्यादिदेवानां यत् मिथ्याभिमानम् आसीत् तत् दूरीकृतम्। एवमेव मानवानां मिथ्याभिमानस्य अपि दूरीकरणं भवति मानवतायाः कार्यं तद् अस्मिन् उपनिषदि सम्यक्रूपेण प्रतिपादितम् '**ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिज्ञे**'[६] इत्यादिना।

एवम् उपनिषदि बहुत्र मानवतावादस्य दृष्टान्तानि दृश्यन्ते। तत्र यम–नचिकेतः संवादरूपा कठोपनिषदि अस्य मानवतावादस्य दृष्टान्तः भूयसः दृश्यते, तदधुना निरूप्यते–

इयम् कठोपनिषत् कृष्णयजुर्वेदान्तर्गता। अस्मिन् यमनचिकेतयोःसंवादमाध्यमेन मनुष्याणां मनुष्यत्त्वस्य चरमो विकासः दृश्यते। तत्र वेदोक्त '**अतिथि देवो भव**' इति वाण्याः प्रतिफलनं सम्यक्रूपेण परिदृश्यते। तत्र यदा नचिकेता यमस्य गृहे अनश्नन् रात्रित्रयं यापितं तदा यमस्य नचिकेतसं प्रति मानवतायाः उत्कृष्टतमः व्यवहारः दृश्यते। सः सर्वशक्तिमान् यमः तस्य बालकस्य प्रति विनम्रभावेन उक्तवान्–

तिस्त्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व।।[७] इति।

किञ्च नचिकेता अपि '**पितृदेवो भव**' इति श्रुतेः सम्यक्तया परिपालनं कृतवान्। तत्र नचिकेतसः पिता तं नचिकेतसं मृत्युलोकं प्रेषितवान् तथापि सः नचिकेता तस्य पितुः प्रसन्नताम् इच्छति। सः नचिकेता यमं प्रति प्रार्थयति यत् मम पिता मां प्रति सुमनाः प्रसन्नमनाः च यथा स्याद् तथा वरं ददातु इति। अर्थात् यद्यपि नचिकेतसः पिता तं नचिकेतसं मृत्युलोकं प्रेषितवान् तथापि तस्य मनसि एवं चिन्ता आसीत् यत् यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति। एवं रूपस्य चिन्तायाः निराकरणाय एव नचिकेता यमं प्रति पार्थितवान्। एवम् आसीत् नचिकेतसः मनुष्यत्त्वम्।

तच्च उक्तं कठोपनिषदि–

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।।[८] इति।

दृढ़संकल्पः भवति मानवतायाः एकः अंशः। तत्सम्यक्रूपेण दृश्यते कठोपनिषदि। तत्र नचिकेता खल्वासीत् दृढ़संकल्पी। स्वदृढ़संकल्पत्वेनैव मृत्युमुखात् निष्क्रम्य परमपदज्ञानं लब्धम्। तेन न कदापि भाग्यस्योपरि सर्वं न त्यक्तम् अपि तु कर्मणि तस्य विश्वासः आसीत्। एतत्कारणाद् एव महता तपसा मानवताबलेन यमेन याचितः कामाः प्रक्षिप्तः। सर्वसुखग्रहणाय न्यवेदि परं सः दृढ़संकल्पी बालकः सर्वान् कामान् त्यक्तवान्। तस्य मानवतावादः तत्र आश्चर्यजनकः प्रतिभाति।

उपनिषदि मानवतावादस्य सारं भवति यत् परितः विद्यमानेभ्यः सर्वेभ्यः निःस्वार्थं प्रेमं करणीयम्। पितरौ प्रति स्वकर्तव्यं करणीयम्। समाजस्य यथा सौकर्यं स्यात् तथा कार्यं सर्वदा करणीयम्। किञ्च सर्वेभ्यः निःस्वार्थं आदरं देयम्।

वेदस्य उद्घोषणं भवति '**मनुर्भव**'[९] इति। अर्थात् मणोरप्यम् अण् इत्यनेन मानवः भवति इत्यर्थः। सर्वेऽस्मिन् विश्वे शान्त्यादिनां सह मनुष्यजन्मस्य सार्थककरणाय मानवोचितगुणानाम् अपि सन्निवेशः भवतु इत्येव मानवतावादः। मानवतायां मनुष्याणां प्रेम, दया, क्षमा इत्यादिनां एव गणना भवति। अर्थात् मानवतायां मानवकल्याणम् एव प्रधानम्। एवं पुराणेषु अपि मानवकल्याणविषये आलोचना प्राप्यते। तत्र विष्णुपुराणे–

न ताडयति नो हन्ति प्राणिनोन्यांश्च देहिनः।

यो मनुष्यो मनुष्येंद्र तोष्यते तेन केशवः।।[१०] इति।

अर्थात् यः मनुष्यः अपरं मनुष्यं जीवं वा पीड़ा न ददाति तं मनुष्यं प्रति माधवः अपि संतुष्टः भवति। अर्थात् परपीडा न कर्तव्या इत्येव मानवतायाः मूलमन्त्रः भवेत् । एतदेव उपनिषदां पुराणानां भारतीयसंस्कृतेः च आदर्शः। तदुच्यते–

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।। इति।

सभ्यतायाः प्रारम्भतः एव अस्मिन् विश्वे मानवाः प्राणिनः च सदैव दुःखमनुभवन्ति। एतेषां मनुष्याणां प्राणीनाञ्च दुःखं दूरीकरणाय कल्याणकामिनः प्राणिनः नितरां प्रयत्नं कृतवन्तः। तत्रोपनिषत्साहित्ये विश्ववासीनां मनुष्यानां प्राणीनाञ्च कल्याणविधाने विविधमार्गाः उपदिष्टाः ऋषिभिः। श्वेताश्वतरोपनिषदि अत्यन्तं सरलेन सोदाहरणेन तदुपायाः प्रदर्शिताः ऋषिणा श्वेताश्वतरेण। तत्र उपनिषदः आरम्भे शङ्करानन्देन अस्य श्वेताश्वतरशब्दस्य निर्वचनप्रसङ्गे उक्तम् यत् अश्वस्वरूपेन्द्रियाणि विपरीतप्रवृत्तिविषयेभ्यः संयतकरणं भवितव्यं तर्हि विश्वकल्याणसाधनेन वयं परिपूर्णं भविष्यामः इति। एवं मानवतावादस्य लक्ष्यमेव भवति मानवकल्याणमिति। तस्मात्

अस्मिन् उपनिषदि उच्यते इन्द्रियसंयमेनात्मज्ञानेन चात्मकल्याणं विश्वकल्याणञ्चावश्यमेव भविष्यति। आत्मज्ञानं हि विश्वमानवतावादस्य विश्वकल्याणस्य सर्वोत्कृष्टः मार्गः। तस्मात् कारणाद् अस्याम् उपनिषद्युपसंहारे झंकृतमस्ति–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।।[११] इति।

उपनिषदः लक्ष्यमासीत् यत् मानवानां ज्ञानं यथा स्यात्, तेषां मुक्तिः यथा स्यात्, किञ्च मानवकल्याणम्। तस्मादेव उपनिषदि प्रतिपाद्यते– '**असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय ...।**'[१२] इत्यादि। मनुष्याणां कृते सत्यमेव संप्रेषयति तथा अज्ञानस्य अन्धकारस्य नाशं कृत्वा दीपं प्रज्वालयति। माम् असत्यतः सत्यं प्रति नय, अन्धकारात् प्रकाशं प्रति नय, किञ्च मृत्युतः अमरत्वं प्रति नय इत्यादि वाक्येन मानवतायाः प्रकाशः दृश्यते उपनिषत्सु।

सन्दर्भाः

१. नीतिशतकम्, १२

२. ईशावास्योपनिषद्– १

३. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। केनोपनिषद्, २.५

४. श्रीमद्भगवद्गीता, २.५१

५. श्रीमद्भगवद्गीता, ५.१०

६. केनोपनिषद्, ३.१

७. कठोपनिषद्, १.१.९

८. कठोपनिषद्, १.१.१०

९. ऋग्वेदः, १०.४३.६

१०. विष्णुपुराणम्, ३.८.१५

११. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६.२३

१२. बृहदारण्यकोपनिषद्।

परिशीलितग्रन्थपञ्जिः

- केनोपनिषद्, गोरखपुर, गीताप्रेस, सं. १९९४
- कठोपनिषद्, गोरखपुर, गीताप्रेस, सं. १९९४
- घोषालः, चित्तरञ्जन, गीता–संग्रहः. ग्रन्थिक।
- घोषालः, चित्तरञ्जन, उपनिषद्संग्रहः, ग्रन्थिक।
- छान्दोग्योपनिषद्, गोरखपुर, गीताप्रेस, सं. १९९४
- तैत्तिरीयोपनिषद्, गोरखपुर, गीताप्रेस, सं. २००८

- दीक्षितः, अप्पय, सिद्धान्तलेशसंग्रहः, काशी, अच्युतग्रन्थमाला, सं. १९९३
- दीक्षितः, अप्पय, सिद्धान्तलेशसंग्रहः, काशी, अच्युतग्रन्थमाला, सं. १९९३
- धर्मराजध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९५४
- बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस, सं. २००८
- माण्डूक्यादि-त्रयोपनिषद्, कैलास गेट, हृषिकेश (उ.प्र.), श्री कैलास विद्या प्रकाशन, सं. १९९९
- विद्यारण्य, पञ्चदशी, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, १९४९
- सदानन्दः, वेदान्तसार, राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७८
- सदानन्दः, वेदान्तसार, श्रीरामशरणत्रिपाठीशास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २०१८
- गम्भीरानन्द, स्वामी, उपनिषद् ग्रन्थावली, (१म), उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता।

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

महाभारते मोक्षः

खेमराजः*

प्रस्तावना

मर्त्यलोकाद् विमुच्यन्ते विद्यासंसक्तचेतसः।
ब्रह्मभूता विरजसस्ततो यान्ति परां गतिम्।।[१]

यस्य मनः ज्ञाने आसक्तोऽस्ति, ते संसारभवसागराद्विमुक्तो भवति। अर्थात् यस्य मनः ज्ञानस्य साधनेषु संलग्नोऽस्ति स मर्त्यलोकस्य बन्धनेभ्यो विमुक्तो भवति तथा रजोगुणरहितं ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारं कृत्वापरमगतिं प्राप्नोति।

भारतीयसंस्कृतवाङ्मये मानवजीवनस्य सार्थकसर्वाङ्गीणविकासाय पुरुषार्थचतुष्टयरूप-धर्मार्थकाममोक्षाणां विषये विस्तृतं वर्णनं सम्प्राप्यते। भारतीयदर्शनशास्त्रे मोक्षस्य अथवा कैवल्यस्यावधारणा अत्यन्तप्राचीनतमाऽस्ति। मोक्षस्यावधारणा अस्माकं वेददर्शनपुराणैतिहासिकग्रन्थसाहित्यभगवद्गीतेत्यादिषु सर्वासु विधासु सम्प्राप्यते। महाभारतेऽपि मोक्षतत्त्वस्य सविस्तरेण वर्णनमायाति। चतुरशीतिलक्षयोनीनां जन्ममरणादिलोकव्यवहारस्य पालनं कृत्वा तदनन्तरं मनुष्यजन्म सम्प्राप्तमिति तथा मनुष्यजीवनेऽस्मिन् जन्ममरणावागमनचक्रेण नानाप्रकारकाणां दुःखकष्टपिडेत्यादीनामनुभवः करोति, एतैः कष्टैः आत्यन्तिकमुक्तिःएव मोक्ष इति।

संस्कृतवाङ्मयस्य सर्वाधिकविशालकायमहाकाव्यं महाभारतमिति स्वयमेव ज्ञानेनप्लावितं परिपूर्णञ्चास्ति, यस्मात्कारणादुच्यते यत् इदं धर्मशास्त्रेण सह अर्थशास्त्रस्य मोक्षशास्त्रस्य च कोषो वर्तते।

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।।[२]

मोक्षः आध्यात्मिकपुरुषार्थोऽयमिति। मोक्षप्राप्तेः तात्पर्यमात्मस्वरूपे प्रतिष्ठापनमित्यस्ति। भारतीयदर्शने षडास्तिकदर्शनानि सन्ति। नास्तिकदर्शनं यद्यपि त्रीण्येव मुख्यानि सन्ति एतेषां सर्वे दार्शनिकाः धालमकसम्प्रदायाश्चमोक्षं कैवल्यं वा मन्यन्ते।

मोक्षस्य दृष्टिकोणे, स्वरूपे प्राप्त्युपायेषु च भेदाः भवितुमर्हन्ति, कश्चित् अमूं 'निर्वाणम्', कश्चित् 'मोक्षः', कश्चित् 'कैवल्यम्', कश्चित् 'अर्हत्', कश्चित् 'मुक्तिः', कश्चित् 'बोधिसत्त्वम्', कश्चित् 'स्वर्गः', कश्चित् 'जन्नतः' इत्यादिनामभिः मोक्षेण सहोपमा कुर्वन्ति। सर्वेषु दर्शनेषु मोक्षसाधनानि,

---

* शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, हिमाचलप्रदेशकेन्द्रीयविश्वविद्यालयः, धर्मशाला, हिमाचलप्रदेशः।

उपायाः अवधारणाश्च पृथक्–पृथक् रूपेण उक्ताः सन्ति, सर्वेषां साध्यं लक्ष्यं वा मोक्ष एवास्ति।

मोक्षस्यार्थोऽस्ति कष्टसमाप्तिरिति। पुरुषार्थचतुष्टयानुसारं मोक्षं मानवस्यान्तिमं लक्ष्यं मन्यते। महाभारते मोक्षसम्बन्धितानेकप्रसङ्गाः विद्यन्ते, येषामनुसारं मोक्षः सर्वदाऽलौकिकसुखदिव्यशान्तेश्च विलक्षणावस्था वर्तते। महाभारते ज्ञान भक्ति निष्काम कर्मधर्मवैराग्येत्यादीन् मोक्षप्राप्तेः साधनानि अभिव्यजितानि सन्ति।

भारतीयधर्मशास्त्रे मानवजीवनस्य पुरुषार्थचतुष्टयं विवेचितमस्ति– धर्मार्थकाममोक्षाः इति। धर्मार्थकामेति भौतिकपुरुषार्थाः, मोक्षश्चाध्यात्मिकपुरुषार्थः इति। धर्मार्थकामाः व्यक्तिं सांसारिकतां प्रति प्रवृत्ताः सन्ति तथा मोक्षो व्यक्ति सांसारिकतया निवृत्तः करोति। संसारमिदं आवागमनस्य, जन्ममरणयोः तथा नश्वरतायाः केन्द्रमस्ति। ज्ञानाभावत्वात् मानवः संसारचक्रेऽस्मिन्बद्धो भवति तथा कदापि जन्ममरणयोः चक्रव्यूहान्मुक्तो नैव भवति, येन तं नानाकष्टानामनुभवः सम्प्राप्नोति, एतेभ्यः कष्टेभ्य आत्यन्तिकमुक्तिरेव 'मोक्षः' इति सुनिश्चीयते।

मोक्षस्यावधारणा अस्माकं वेददर्शनैतिहासिकग्रन्थसाहित्येत्यादिसु सर्वासु विधासु सम्प्राप्नोति। महाभारतेऽपि मोक्षतत्त्वस्य सविस्तरेण वर्णनं वर्णितमस्ति। महाभारते वर्णिता मुक्तिः जीवद्वारा अहमत्वस्य परित्यागः तथा नारायणे अवस्थिते सति अथवा स्वं परब्रह्मसदृश्यमवगमने एव सम्भवति।

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
ज्ञानं विना मुक्तिः नैव।।[३]

महाभारते शान्तिपर्वण्यनुसारमात्मज्ञानमेव एकमेतादृशं साधनमस्ति, येनमानवस्य सांसारिकवस्तूनि प्रति मोहस्य समाप्तिर्भवति तथा स सांसारिकबन्धनेभ्यो विमुक्तो भूत्वा जगन्मिथ्येति मत्वा, परमात्मनि विलीनो भवति, अनेन प्रकारेण '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्ये**' त्यनुभूतिरेव 'मोक्षः' इति निगद्यते।

भारतीयसंस्कृतवाङ्मये मानवजीवनस्य सार्थकसर्वाङ्गीणविकासाभ्यां पुरुषार्थचतुष्टयं प्रत्येकस्मैमानवायानिवार्यरूपं मन्यते। पुरुषार्थचतुष्टयद्वारा प्रत्येकस्य व्यक्तेः उद्देश्यस्य निर्धारणं करोति। पुरुषार्थाः सार्थकजीवनरूपशक्तेः द्योतकाः सन्तियेमानवं सांसारिकसुखानां भोगं कारित्वा स्वधर्मपालनेन परमात्मनाः (मोक्षस्य वा) प्राप्तिः कारयति। पुरुषार्थचतुष्टयस्यानुसारं मोक्षं मानवस्यान्तिमं लक्ष्यं मन्यते। धर्मपूर्वकमर्थकामयोः ग्रहणेन मोक्षः सुलभो भवति तथा मोक्षप्राप्त्या मनुष्यः कृतार्थो भवति।

जीवने त्यागप्रतिष्ठायाः नामैव मोक्षोऽस्ति। वासनातृष्णाऽहन्तारूपबन्धनैः मुक्तिं सम्प्राप्य आत्मतत्त्वं प्रत्युन्मुखीकरणमेव मोक्षो भवति।

महाभारते मोक्षसम्बन्धितानेकप्रसङ्गाः सन्ति, येषामनुसारं मोक्षः सर्वदा अलौकिकसुखदिव्यशान्तेः विलक्षणावस्था प्रवर्तते। महाभारते ज्ञान भक्ति निष्काम कर्म धर्म वैराग्य

भगवच्छरणागतीत्यादीन् मोक्षप्राप्तेः निमित्तकर्तव्यान्युक्तानि सन्ति यत् जगत्यस्मिन्मानवं मोक्षप्राप्तिहेतुः निरन्तररूपेण प्रयत्नशीले भवनीयम्। मानवजीवनस्य प्रामुख्यलक्ष्यरूपसमस्तदुःखकष्टादीनां वासनाऽऽसक्तीभ्यां विमुक्तीभूय शाश्वतसुखशान्त्यानन्दादिकं प्राप्नोति। अस्माकं भारतवर्षस्यमहदृषिमुनिप्रभृतिभिः एतस्मै विभिन्नप्रकारकैः जपतपोज्ञानभक्तीत्यादीनां तथा नानोपासनानां विधानं पात्रभेदानुसारेण क्रियते, एतैः साधनैः मानवो लौकिकजीवने सुखसाफल्यादिकमर्जयन् मरणोपरान्तं पारलौकिकसुखसाधनानां प्राप्तिरपि कर्तुं शक्नोति। एतदतिरिक्तं जीवनस्य मुख्योद्देश्यं कैवल्यस्य मोक्षस्य प्राप्तिः करोति।

श्रीमहाभारतस्य शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्व चतुःसप्तत्यधिकद्विशतकतमे अध्याये मोक्षप्राप्तेः पवित्रमार्गाणां वर्णनं वर्ण्यते, यथा–

अमूढत्वमसङ्गित्वं कामक्रोधविवर्जनम्।
अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो व्यवस्थितिः।।
एष मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः।
तथा वाक्कायमनसां नियमः कामतोऽन्यथा।।[४]

आसक्तिमूढतयोः अभावकामक्रोधानां त्यागदीनतोद्दण्डतोद्वेगैः रहितम्, चित्तस्थिरता तथा निष्कामभावेन मनोवागिन्द्रियाणां संयमोऽयं मोक्षस्य स्वच्छता, निर्मलता पवित्रता च मार्गोऽस्ति।

भारतीयदर्शनानां पुराणानाञ्च सममुपनिषत्स्वपि बन्धनं मोक्षञ्च स्वीकृतमस्ति। मोक्ष एव जीवनस्य परमं लक्ष्यमित्यङ्गीक्रियते। मोक्षस्य विषयोऽयमेकात्यन्तरहस्यात्मकोऽस्ति तथा रोचकतया जिज्ञासया च पूर्यते। मानवो मनसि विचारोऽयमायाति तथा तदा स स्वतोऽनेके प्रश्नाः पृच्छति यत् आत्मतत्त्वं किमस्ति? कुतश्च आयाति तथा चान्ते कुत्र गच्छति? एते विविधप्रश्नाः जिज्ञासायाः विषया भवन्ति। प्रारम्भ एव एतेषां प्रश्नानामुत्तरस्यान्वेषणे मात्रमेकं तथा अन्तिमविकल्परूपेण सर्वशक्तिसम्पन्नेश्वरं मन्यते।

अत्रैकः प्रश्नो मनस्युत्पद्यते यद् वयं कथं मोक्षस्येच्छा कुर्मः? प्रश्नोऽयमपि बहुसत्यमस्ति । मोक्षस्य परिकल्पना कथं क्रियते? यतो हि वयं बन्धने निवसामः, अत एव मुक्तिहेतुः मोक्षं वाञ्छामः। उपनिषत्सु बन्धनस्यापरनाम 'ग्रन्थिः' अप्युच्यते। यस्यार्थो वर्तते बन्धनमिति तथा मोक्षः अन्धकारान्निवृत्तिः ज्ञानस्य प्राप्तेर्विषय इति। विद्ययैव मोक्षः सम्भवः। विद्यायाः विकासाय उपनिषत्सु नैतिकानुशासनोपरि बलं दीयते। ब्रह्मचर्यपरिग्रहौ तत्र प्रामुख्यं भजते। तत्र सर्वेषु सत्याहिंसाऽस्तेयाः अपि विद्यन्ते। तथा जीवः स्ववास्तविकस्वरूपस्य परिचयमपि अर्जयन् मरणोपरान्तं स्वर्गिकसुखसाधनादीनां प्राप्तिरपि कर्तुं शक्नोति। एतदतिरिक्तजीवनस्य मुख्योद्देश्यं कैवल्यप्राप्तिः मोक्षप्राप्तिर्वाभवनीयमिति, अत एवोच्यते– '**ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति।**'[५] अर्थात् यो ब्रह्म जानाति स स्वयमेव ब्रह्म एव भवति। उपनिषत्सु ब्रह्मैव मुक्तिः मोक्षो वा भवति, यथा जलबिन्दुः समुद्रं सम्प्राप्यस्वास्तित्वं परित्यज्य समुदैव सम्भूय मुक्तिं प्राप्नोति तथैव जीवोऽपि जलबिन्दुमिव

ब्रह्मणि विलीनो भूत्वा मुक्तेः दायभाग्भवति।

प्रारब्धकर्माणां क्षये सति जीवनं विदेहमुक्तं भवति। जीवनमुक्तस्य विदेहमुक्तस्य चावधारणायां विभिन्नदार्शनिकैः भिन्नभिन्नरूपेषु स्वीकृतवन्तः सन्ति। उपनिषत्सु क्रममुक्तेः अथवा 'क्रमशः मुक्तेः' अपि एकं रूपं प्राप्यते। यस्यानुसारम् अनायासः मुक्तिः नैव प्राप्नोति, अपितु क्रमेण क्रमिकरूपेण वा प्राप्नोति। उपनिषत्सु मुक्तेः अप्राप्तस्य प्राप्तिर्न मत्वा आत्मनः मूलस्वरूपमुच्यते, अत एवास्य नाम 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' इत्यस्ति।

उपनिषत्सु मोक्षप्राप्तेः एका प्रक्रियोच्यते, यत्र सा त्रीषु पादेषु चरणेषु वा पूर्णतां याति, ते यथा–

१. **श्रवणम्–** गुरूपदेशानां श्रद्धापूर्वकं श्रवणं करणीयम्।

२. **मननम्–** गुरूपदेशानां चिन्तनं करणीयम्।

३. **निदिध्यासनम्–** प्राप्तज्ञानस्याभ्यासेन निरन्तररूपेणाध्ययनं करणीयम्।

प्रक्रियायाः अस्याः परिपालनेन बन्धनग्रस्तः आत्मा विमुक्तो भवति तथा मोक्षप्राप्तिर्भवति । चार्वाकदर्शनेन पूर्णतो भौतिकवादी वर्तत तदाऽपि मोक्षस्यावधारणया स्पर्शहीनो भवति, मोक्षाय काममोक्षौ मूलं मन्यते, चार्वाकदर्शनं कदाचित् काम एव मोक्षः इत्यङ्गीक्रियते।

पुरुषार्थचतुष्टयेमोक्षसिद्धान्तो भारतीयसंस्कृतेः विशिष्टोपहारो प्रवर्तते। सिद्धान्तस्यास्य संरचना मनीषिभिः मानवजीवनस्याध्यात्मिकव्यावहारिकपक्षौ दृष्टिगोचरे संस्थाप्यकृता। पुरुषार्थान्तर्गतं मानवजीवने प्रयोजनोद्देश्याभ्यां युक्तं मत्वा जीवनस्य चरमलक्ष्यप्राप्तेः उपदेशः प्रदीयते।

पुरुषार्थानां तत्र सङ्ख्या चतस्रः इत्यङ्गीक्रियते धर्मार्थकाममोक्षभेदात्। पुरुषार्थचतुष्टयमिदं मानवजीवनं गरिमामयं करोति। धर्मार्थकामश्चेति सर्वेभ्योऽभिलषिताः। एतेषां सिद्धिः मानवं लोकेऽस्मिन् परलोके चाप्यभ्युदयप्राप्तिर्भवति। किन्तु मनुष्यस्य पुरुषार्थस्यान्तिमा परिणितिः अर्थात् चतुर्थः पुरुषार्थो 'मोक्षः' इत्यस्ति। अस्यापरनाम 'परमपुरुषार्थः' इत्यप्युच्यते यतो हि अयमतिशयानन्दानुभूतेः साधनमिति तथा एतस्मादु। परिमानवजीवनस्य अन्यस्य कस्यचित् लक्ष्यस्य परिकल्पना नैव कर्तुं शक्यते।

मानवजीवनस्य सार्थकता यस्मिन् गन्तव्यस्थाने आगत्य चिरशान्ति प्राप्नोति स एव 'मोक्षः' इति। मोक्षो भारतीयधर्मस्याधारभूतः सर्वमान्यप्रत्ययो वर्तते। मोक्षस्य चिन्तनं भारतीयसंस्कृतेः समस्तशास्त्रेष्वन्तर्निहितं प्रवर्तते। मोक्ष आध्यात्मिकपुरुषार्थो अन्ये च भौतिकपुरुषार्थाः इति। त्रिवर्गस्य धारणा इहलौकिकजीवनस्य मूलभूतावश्यकताभिः रुचिभिश्च सह सम्बन्धः संस्थापयति, तथापि मोक्षः पारलौकिकजीवनस्य मार्गः अग्रसरमानवमाध्यात्मकेन्द्रितसुखे निमग्नसाधनस्य नामास्ति।

सम्पूर्णभारतीयवाङ्मये मोक्ष एव जीवनस्यान्तिमोद्देश्यमुच्यते, यतो हि मोक्षप्राप्ति बिना जीवस्य दुःखपरम्परारूपसम्पूर्णार्थानां निवृत्तिर्नैव भवितुं शक्नोति। अत एव मोक्षस्यापरनाम 'परमपुरुषार्थः' इत्युच्यते। पुरुषार्थोऽयमेव मनुष्यं शिक्षां प्रददाति यत्सांसारिकसुखानुभूतिः

क्षणिकोविद्यते, यतो हि सुखप्राप्ते सति मानवस्य अत्यधिकसुखस्य प्राप्तेः जिज्ञासा प्रबलतां प्राप्नोति तथा सुखप्राप्तौ विघ्नतायां सत्यां दुःखानुभूतिर्भवति। अत एव मोक्षमाधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकत्रिविधदुःखानां विनाशको मन्यते। मोक्षप्राप्तेरनन्तरं विश्वस्य जन्ममरणचक्राद्विनिर्मुक्तो भवति।

साधारणतया मोक्षस्यार्थो जीवनमुक्तिरिति स्वीक्रियते। 'मोक्षः' इति शब्दस्य व्युत्पतिः 'मुच्तृ मोक्षणे' इत्यस्माद्धातोः क्तिनि प्रत्यये कृते सति शब्दरूपसिद्धिर्भवति। यस्यार्थः 'बन्धनात्स्वतन्त्रते'ति भवति। अतो जन्म पुनर्जन्म सहित सम्पूर्ण वर्तमान जीवन सम्बद्ध दुःखबन्धनेभ्यो मुक्तिरेव 'मोक्षः' इति स्वीक्रियते, यथोक्तं केनचित् कविना– 'मुच्यते सर्वैः दुःखबन्धनैर्यत्र सः मोक्षः' इति। मोक्षस्य विभिन्नपर्यायाः विद्यन्ते, यथा– कैवल्यम्, मुक्तिः, निर्वाणम्, परमपदम्, ब्राह्मीस्थितिः, परमसिद्धिः, पूर्णता, विनिर्मुक्तिः, अपवर्ग इत्यादयः। मोक्षः परमज्ञानस्य परमानन्दस्य वासा अवस्था वर्तते यस्यां जीवः स्वपरमब्रह्माणम् अर्थात् आत्मस्थपरमात्मानं प्राप्नोति। मोक्षस्य प्रत्ययः सर्वोच्चज्ञानसम्बद्धोऽस्ति। ज्ञानमिदं शास्त्रविषयो वर्तते तथा आत्मतत्त्वस्य ज्ञानराशिरिति प्रकारकविज्ञानमस्ति। मोक्षस्य न कोऽपि आदिः नश्चान्तः इति। मोक्षः पूर्णतायाः स्थितिरस्ति, यः स्वतः आनन्दस्वरूपमस्ति। संस्कृतसाहित्ये प्रारम्भ एव मोक्षं श्रेष्ठपुरुषार्थस्य चरमोत्कर्षस्यावस्था मन्यते। मोक्षरूपपुरुषार्थस्य चिन्तनं संस्कृतसाहित्यस्य समस्तप्रसिद्धग्रन्थेषु क्रियते।

ऋग्वेदे- 'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्ति' इत्युक्त्वा बन्धनमुक्तिर्विद्यते तन्नाम मोक्षः इति। विष्णुपुराणेऽपिमोक्षं परमपुरुषार्थोऽङ्गीक्रियते–

इति संसारदुःखार्क-ताप-तापितचेतसाम्।
विमुक्ति पादपच्छायामृते कृतसुखं नृणाम्।।[६]

मोक्षस्यार्थः- 'मुच्यते सर्वैर्दुःखबन्धनैर्यत्र स मोक्षः' इति। अर्थात् यत्पदं प्राप्य जीव आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकसम्पूर्णत्रिविधतापदुःखबन्धनेभ्यो विनिर्मुक्तिः 'मोक्षः' इत्युच्यते, अत एव तन्नामैव 'मुक्तिरि' त्यप्युच्यते। 'मुक्तिरि' ति शब्दस्य व्युत्पतिरपि 'मुच्तृ मोक्षणे' इत्यस्माद्धातोः क्तिनि प्रत्यये कृते सति शब्दरूपसिद्धिर्भवति। यस्यार्थोऽपि? बन्धनात्स्वतन्त्रते' ति भवति। बन्धनमुक्तिः, मोक्षः, अपवर्गः, निर्वाणः कैवल्यञ्चेत्यादयः पर्यायशब्दाः सन्ति। शब्दकल्पद्रुमग्रन्थानुसारे मोक्षशब्दस्य निर्वचनं यथोक्तमस्ति– **'मोक्ष्यते दुःखमनेन'** इति अर्थात् येन दुःखनिवृत्तिर्भवति तन्नाम मोक्षरिति निगद्यते।

बृहद्भागवतमृतमित्याख्ये ग्रन्थे मोक्षस्यार्थः मुक्तिरेवोच्यते 'भौतिकोर्जायाः बन्धनात्पूर्णमुक्तिः, या 'अहमत्वं' तथा 'ममत्वमि' त्यनयोः मिथ्याधारणाभिः व्यक्ता भवति तस्याः विमुक्तेर्नाम 'मोक्षः' इति निगदितमस्ति। मुक्तेः पञ्चभेदाः सन्ति– 'सारूप्यमि' ति अर्थात् ईश्वरसदृशं रूपप्राप्तिः, 'सामीप्यमि'ति अर्थात् ईश्वरस्य समीपस्थ निवासः, 'सालोक्यमि'ति अर्थात् भगवत्सदृशं लोके

निवसनम्, 'समृष्टिरि' ति अर्थात् भगवत्सदृशमैश्वर्यप्राप्तिः तथा 'सायुज्यमि' ति अर्थात् भगवतः शारीरिकतेजसा तथा 'ब्रह्मज्योतिः' इत्यनया सह विलीनं भूत्वाताभ्यां साकमेकीकरणमिति। वैष्णवाः 'सायुज्यमि' ति भेदमस्वीक्रियते'' इति। ज्ञानद्वारा मनुष्यपिशाचराक्षसयक्षसर्पगन्धर्वपितरतिर्यग्योनि गरुड-मरुण-राजर्षि-ब्रह्मर्षि-विश्वदेवा-सुरदेवर्षि-योगी-प्रजापतीत्यादीनामात्मनः प्राप्तेः मार्ग प्राकृतप्रलयं तथा आत्मविचारं सम्यक्तया जानाति, स ज्ञानविज्ञानाभ्यां सुसम्पन्नं तथा मोक्षोपयोगीसाधनानामनुष्ठानेन शुद्धचित्तसा कल्याणमयसाङ्ख्ययोगिनः परमाकाशतत्त्व रूपपरमीश्वरं तथा सूक्ष्मभूतानां सदृशं मङ्गलमयमोक्षं प्राप्नोति।

परिभाषा- स्वामीदयानन्दसरस्वतिना स्वकीये 'सत्यार्थप्रकाशः' इत्याख्येग्रन्थे मोक्षमित्थं पारिभाषितमस्ति- '**मुज्वयन्ति पृथग्गमवन्ति जनो यस्यां सा मुक्ति ।**'[७] अर्थात् यस्मिन् प्राणिनः सम्पूर्णदुःखेभ्यो विनिर्मुक्ता भवन्ति स एव 'मुक्तिः', 'मोक्षो' वेत्युच्यते। दुःखेभ्यो विमुक्तिं प्राप्य स मानवाः सुखं प्राप्नुवन्ति तथा च परमब्रह्मणि निवसन्ति।

उद्देश्यानि

१. जिज्ञासुकाः मोक्षपदस्य विषये विविधपर्यायपूर्वकं सांसारिकवास्तविकसुखेभ्यः परिचिता भविष्यन्ति। तथा मोक्षस्य यथार्थस्वरूपस्य विषये ज्ञास्यन्ति।

२. लौकिकपारलौकिकसुखसाधनादिविषये तथा चात्मस्वरूपस्य ज्ञानं करिष्यति।

३. मोक्षप्राप्तेः साधनानि का नीति-जिज्ञासायाः प्रत्युत्तरेनाविषयाणां ज्ञानमर्जिष्यन्ति।

४. मुमुक्षुः ब्रह्मज्ञानस्यावधारणायाः विषये ज्ञानमर्जितुं शक्नोति।

५. भगवता वेदव्यासेन वर्णिते महाकलेवरमहाकाव्ये महाभारते के-के मोक्षस्वरूपस्य विविधमार्गसाधनोपायाः वर्णिताः तेषां विषये ज्ञानमर्जिष्यन्ति।

६. मोक्षस्य विषये विभिन्नभारतीयसाङ्ख्ययोगमलमासान्यायादिदार्शनिकानां दृष्टिकोणेषु विषये ज्ञास्यन्ति।

महाभारते मोक्षस्वरूपम्- शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमूर्तद्रव्याणिएते षड्गुणाः जीवस्य मरणात्पूर्वं यावत् इन्द्रियजन्यज्ञानस्य साधका भवन्तीति (एतैः सह इन्द्रियाणां संयोगे सत्येव भिन्नभिन्नविषयाणां ज्ञानं प्रवर्तते)।[८] श्रोत्रादीन्द्रियेषु तेषां विषयाणां विसर्जनेन परित्यागेन वा सम्पूर्णतत्त्वानां यथार्थनिश्चयरूपमोक्षप्राप्तिर्भवति । तस्य तत्त्वनिश्चयस्यात्यन्तनिर्मलमुत्तमज्ञानरूपं तथा अविनाशीमहत्तत्त्वरूपं 'ब्रह्मपदमि' त्युच्यते।[९]

यथार्णवगतानद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च।
नदाश्च ता नियच्छन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः।।[१०]

यथा सर्वाः नद्यः समुद्रे निमग्नाः भूत्वास्वनामस्वरूपादिकं परित्यजन्ति यथा बृहन्नदाः लघुनदीन्स्वस्वरूपे विलीनाः कुर्वन्ति, तथैव जीवात्मा परमात्मनि विलीनो भवति, तन्नाम 'मोक्षः' इत्युच्यते।[११] यो मानवः मोक्षविद्यारूपविषयेऽस्मिन् जानाति तथा सावधानीपूर्वकमात्म-

त्तत्त्वानुसन्धानं करोति, स जलात्पद्मपत्रमिव कर्मणः अनिष्टफलैः सहनैव लिप्तो भविष्यतीति।[१२]

सकामः कर्मबन्धनमस्ति। सूक्ष्मशरीरस्याभिमानस्यपरित्यागः कृत्वा सर्वश्रेष्ठगतिः प्राप्नोति। ममत्वाभिमानविहीनपुरुषः संसारबन्धनाद्विमुक्तो भूत्वास्वसम्पूर्णदुःखान् दूरीकरोति, यथा यदा जले वृक्षं पतन् खगो पश्यति, तस्मिन् आसक्तिं परित्यज्य वृक्षस्य परित्यागः कृत्वा डीयते, तथैव मुक्तपुरुषः सुखदुःखयोः परित्यागः कृत्वा सूक्ष्मशरीरात् रहितो भवेत् उत्तमगतिं प्राप्नोति।[१३]

भीष्मो वदति- 'हे राजन् ! स्वयमेवाचार्पूचशिखके वदन् अमृतमयमिदं ज्ञानोपदेशं श्रुत्वा राजा जनको यथा ज्ञानं प्राप्यविमुक्तो भूतवान्, तथैव स अपि मोक्षः प्राप्नोति।[१४]

वेदेषु भारतीयदर्शनेषु मोक्षस्यावधारणा

ऋग्वेदे ईश्वरात्सांसारिकबन्धनेभ्यः परित्यागाय प्रार्थनेयं कृतास्ति-

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिपुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।।[१५]

अर्थाद्यथा एका कर्कटिका खर्बुजं वास्वलतायां पक्वतां याति तदुपरान्तं तल्लता रूप भवसागर रूपसंसारबन्धनात्विमुक्ता भवति, तथैव वयमपि अस्यां संसाररूपलतायां परिपक्वतायाः उपरान्तं जन्ममृत्युबन्धनैः विमुक्तो भवति।

भारतीयदर्शनेषु मोक्षस्यावधारणा- साङ्ख्यदर्शनेऽपि मोक्षमेव मूलमिति मन्यते। सामान्यरूपेणास्माकं जीवनं सुखदुःखादिभिः परिपूरितमस्ति। मनुष्यः सामान्यतया सुखाभिलाषा करोति तथा दुःखाद्दूरे एव निवसितुमिच्छति। साङ्ख्यदर्शनेऽपिप्रकृतेः पुरुषेण सह संयोग एव बन्धनमिति। तथा अनयोः विखण्डनमेव मुक्तिरिति। यावत् अस्माकं पार्श्वे नश्वरशरीरोऽयं विद्यते, एताः दुर्बलेन्द्रियः सन्ति, तावत्सर्वेषां सुखानां दुःखमिश्रणम् अथवाऽत्यधिकत्वम् अवश्यमेव सम्भवोऽस्ति। अस्मान् सुखवादं परित्यज्य तथा दुःखेभ्यो दूरं भवेत्तदा अस्मान् मुक्तिः प्राप्नोति। मुक्तिरियमपवर्गः पुरुषार्थो वोच्यते। साङ्ख्यदर्शने सत्ताद्वयं मूलरूपेणाङ्गीक्रियते, यथा- चेतनपुरुषः तथा तस्य विषयभूतजड़पदार्थः। पुरुषः शुद्धचैतन्यस्वरूपमस्ति, यो देशकालकारणबन्धन-रहितोऽस्ति। आत्मा पुरुषो वा सांसारिकविषयेभ्यः परतः शुद्धचैतन्यः, ज्ञानं, नित्यः, अविनाशी मुक्तश्चेति वर्तते। एको रसो ज्ञानस्वरूपमस्ति, यो देशकालकारणबन्धनरहितः अथवा पुरुषः सांसारिकविषयेभ्यः परतः शुद्धचैतन्याविनाशीमुक्तश्चेति विद्यते। एकैकरसो ज्ञानस्वरूपात्मा शारीरिक मानसिक क्रियाणां साक्षीमात्रमेवास्ति। अयं उभाभ्यां भिन्नो वर्तते। अयं दैशिककालिकबन्धनेभ्यः तथा कारणकार्यशृङ्खलाभ्यो मुक्तः, नित्यः अमरोवास्ति, यतो हि अयमुत्पत्तिविनाशाभ्यां परतोऽस्ति, सैव मुक्तिरित्युच्यते।

साङ्ख्यदर्शनम्- साङ्ख्यशास्त्रानुसारेण देहावसाने उद्देश्यानां पूर्णेषु सतिसु तथा प्रकृतेः निवृतिः भूते सति ज्ञानीपुरुष ऐकान्तिकशाश्वतमोक्ष प्राप्नोति-

प्राप्ते शरीरमेदे चरितार्थत्वात् प्रधाननिवृत्ती।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।।[१६]

भगवान् व्यासोऽपि वदति यत्पुण्यपापरहितं भवन्यदा साङ्ख्ययोगी मुक्तो भूत्वातस्मिन्निर्गुणनिर्विकारनारायणस्वरूपपरमात्मनि प्रविष्टो भवति, तदा पुनः स संसारेऽस्मिन्नैवायाति, यथोक्तम्–

विमुक्तः पुण्यपापेभ्यः प्रविष्टस्तमनामयम्।
परमात्मानमगुणं न निवर्तति भारत।।[१७]

संसारसागरेऽस्मिन् मानवो जलमग्नः तथा अवतरन् यदि सङ्कटादस्मात् मुक्तेः इच्छुको भवेच्चेत्तं ज्ञानरूपायाः नौकायाः आश्रयं ग्रहीत्वा धीरपुरुषः स्वज्ञाननौकाद्वारा अपराज्ञानीन्नपि भवसागरात्पारं नयति, देशकर्मानुरागार्थोपायापाय निश्चय चक्षुषाहार संहारमनोदर्शनान्येतेषां द्वादशयोगानामाश्रयं गृहीत्वा ध्यानयोगस्याभ्यासद्वारा साक्षात्कारो गृहयाच्चेत्तदाजरा–मृत्व्वादियुक्तपरमदुर्गमसमुद्रात्पारं याति।

साङ्ख्यसूत्रे उक्तमस्ति यत् आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकत्रिविधदुःखाणां पूर्णरूपेणाभावः अर्थात् अन्तिमपुरुषार्थो मोक्ष एवेति, यथोक्तम्– **'त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः।'**[१८] साङ्ख्याकारिकायाः अनुसारेण ज्ञानेनापवर्गो मोक्षो वा तथा विपर्ययेण अज्ञानेन वा बद्धनाति, यथोक्तम्– **'ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।'**[१९] साङ्ख्यसूत्रस्यानुसारं चेतनाचेतनभेदसाक्षात्कारेण मोक्षप्राप्तिः सम्भवा। यथोक्तम्– **'ज्ञानान्मुक्ति।**[२०]

योगदर्शनम्– योगदर्शनं यदा चित्तसि विकाराः समुत्पद्यन्ते तदा स बन्धने बधनाति, तदा फलस्वरूपेण स सांसारिकविषयेभ्यः सुखदुःखादीन्ननुभवति तथा तस्मिन् रागद्वेषादीनां भावमपि अनुभवति तथा च बन्धनस्य बद्धतां शनैः–शनैः जटिलत्वं प्रददाति। येन मुक्तये **'योगः चित्तवृत्तिः निरोधः'** अर्थात् चित्तवृत्तीनामवरोधस्य नामैव 'योगः' इति, सैव मुक्तिरिति नाम्ना ज्ञायते। यदा कार्यचित्तसः धाराप्रवाहत्वमवरुद्धं भवति तथा कारणमिदं चित्तरूपे शान्तावस्थायामायाति। तदा आत्मा नित्यः, शुद्धः, मुक्तश्चास्ति। सैव मुक्तिरिति, स एव योगः। अवस्थायामस्यां चञ्चलतायुक्तमनोवेगानामुदयोऽवरुद्धो भवति। तथा च–

अप्रमत्तो तथा धन्वीलक्ष्यं हन्ति समाहितः।
युक्तः सम्यक् तथा योगी मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम्।।[२१]

यथा सदैवसचेतो धनुर्धरवीरः चित्तः एकाग्रीकृत्य बाणानुसन्धानेन लक्ष्यं प्राप्नोति, तथैव यो योगी मनः परमात्मानं ध्याने स्मरति, स निस्सन्देहपूर्वकं मोक्षं प्राप्नोतीति।

अमितपराक्रमी नरेश! योगनियमेषु एकाग्रचित्तयोगी नाभि प्रदेश कण्ठ ललाट हृदयवक्षःस्थलपार्श्वभागनेत्रकर्णनासिकाऽऽदिस्थानेषु धारणया सूक्ष्मात्मतत्त्वं परमात्मना सह सम्यक्तया संयुक्तं भवति, स यदि इच्छेत्तदास्वपर्वताकारविशालशुभाशुभकर्मणां शीघ्रमेव भस्मीभूतः कृत्वा उत्तमयोगाश्रयं गृहीत्वा मुक्तो भवति।[२२]

योगदर्शनस्यानुसारं मोक्षः– योगदर्शने मोक्षस्यापरनाम 'कैवल्यमि' त्युच्यते। बुद्धिपुरुषयोः

साम्यभावेन शुद्धिर्भवति, तदा सा अवस्था 'कैवल्यावस्थे' त्युच्यते। 'सत्त्वत्पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।' इति।

सर्वदर्शनसङ्ग्रहस्यानुसारं निर्लेपपुरुषः केवलरूपेणावस्थितो विद्यते, स एव 'कैवल्यमि'ति, यथोक्तम्– **'पुरुषस्य निर्लेपस्य कैवल्येनावस्थानं कैवल्यमिति सिद्धम्।'**[२३]

न्यायदर्शनम्– नैयायिकानामनुसारं मोक्षो दुःखस्य पूर्णनिरोधस्यावस्थाऽस्ति। अपवर्गः शरीरेन्द्रियगतबन्धनेभ्य आत्मनो विमुक्तिरिति भवति। यावदात्मा शरीरग्रस्तो भवति, तावत्पूर्णमुक्तिः सम्भवो नैवास्ति। न्यायानुसारमपवर्गस्य स्थितौ दुःखस्य सर्वथाऽन्तो भवति। सा आत्मनः चरमावस्थाऽस्ति, यस्य वर्णनं धर्मग्रन्थेषु 'अभयम्', 'अजरम्', 'अमृत्युपदमि' त्यादिनामभिः ज्ञायते। नैयायिकानुसारं स्वसचितकर्मणां फलभोगानन्तरं पुनः स जन्ममरणयोः चक्रव्यूहेनैवायाति तथा पुर्नजन्मनोऽपि मुक्तिः प्राप्यते, स एव 'मोक्षः' 'अपवर्गश्च' इत्यस्ति।

नैयायिकानामनुसारं मोक्षः दुःखेनपूर्णनिरोधस्यावस्था वर्तते। 'तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः' इति। महर्षिवात्स्यायनेन समस्तदुःखानामत्यन्तनाशस्य नाम 'मोक्षः' इत्युच्यते– **'तेन दुःखेन जन्मनाऽत्यन्तविमुक्तिरपवर्गः।**[२४] न्यायसूत्रे तत्त्वज्ञानानन्तरं दुःखजन्मप्रवृत्ति दोषमिथ्याज्ञानमित्यादीनाम् उत्तरोत्तरकारणस्य क्रमशो विनाशेन पूर्वाव्यवहितरूपेण विद्यमानकार्यस्य विनाशो भवति तथा चान्ते अपवर्गस्य मोक्षस्य वा प्राप्तिर्भवति, यथोक्तम्– **'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानामुत्तरोतराऽपर्यायतदनन्तरापायाऽपवर्गः।** [२५]

वैशेषिकदर्शनम्– वैशेषिकानुसारं मोक्षस्यावस्थायां दुःखैः सह सुखानामपि अभावो भवति, मोक्षस्यावस्था सुखदुःखाभ्यां परतो भवति। दशायामस्यामात्मप्रवेशे सति आगन्तुकधर्माणां परित्यागः करोति। यथा सुसुप्तावस्थायां जड़पाषाणवत् सञ्ज्ञाशून्यं भवति। आत्मनो मनः, वाण्या अथवा शरीरेण कस्यापि कर्मणो प्रवृत्तिर्नैवास्ति, अतः स पुनर्जन्म नैव ग्रहणाति। शनैः–शनैः तस्य प्रारब्धकर्माणि समाप्यन्ते तथा तस्य समाप्त्यन्तरं मोक्षद्वाराणि उद्घाटयन्ति।

वैशेषिकदर्शनस्य प्रणेतुः महर्षिकणादस्यानुसारं द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायश्चैतेषां षट्पदार्थानां परस्परं साधर्म्यवैधर्म्यज्ञानाभ्यां धर्मविशेषेनानुभूतो भवन्तत्त्वज्ञानेन मोक्षप्राप्तिर्भवति। **धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्** इति।[२६]

वेदान्तदर्शनम्– वेदान्ते आत्मनः चतस्रावस्थाः स्वीक्रियन्ते– जागृतस्वप्न सुसुप्तातुरीयाश्चेति यदा वयं तुरीयावस्थायां गच्छामः सैव परमब्रह्मणः अवस्थाऽस्ति। वेदान्ते कोऽपि द्वैतवादो नास्ति। सर्वं ब्रह्मैवास्ति, स एव मोक्षः। वेदान्तः मोक्षशब्दात् अनेकाः धारणाः अङ्गीकरोति, यथा शङ्करोमोक्षस्यार्थः मुक्तिः स्वीकरोति। तथा रामानुजः अप्राप्तस्य प्राप्तिः इति स्वीकरोति। वेदान्तानुसारं मनुष्यमनाद्यविद्ययोः मूलरूपेण बद्धसंस्काराणामुपरि विजयप्राप्तेरेव 'मोक्षः' इति स्वीकरोति।

अत्र साधनचतुष्टयस्य चर्चाऽपि कृतास्ति–

१. नित्यानित्यवस्तुविवेकः (नित्यानित्यपदार्थानां ज्ञानम्)।

२. इहामुत्रार्थभोगविरागः (लौकिकपारलौकिकानां सर्वेषां भोगानां कामनायाः परित्यागः)।

३. शमदमादिसाधनसम्पत् (शमदमश्रद्धासमाधानोपरतितितिक्षाभिर्युक्तः)।

४. मुमुक्षत्वसाधकं मोक्षाय दृढ़ीकरणम्।

तदनन्तरं मनोवासनेन्द्रियेषु विजयप्राप्त्यनन्तरं श्रवणमननिधिध्यासनानि कर्त्तव्यानि।

वारं-वारं ब्रह्मविद्यायाः अनुशीलनं तथा तदनुकूलाचरणात्पूर्वं संस्कारस्य क्षयः तत्पश्चान्मुमुक्षोः गुरुः 'तत्त्वमसि' अर्थातत्त्वमब्रह्मासीत्यभिप्रायः इति वाक्यस्य दीक्षां प्रददाति। यदा आत्मनः साक्षात्कारो भवति तदा 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् अहमेव ब्रह्मास्मीति ज्ञानमायाति। जीवबन्धनत्वपरिसमाप्तिर्भवति तथा स मोक्षस्य साक्षात् अनुभवः करोति। शङ्कराचार्यस्यानुसारमात्मनः स्वयथार्थरूपेणावस्थानमेव मोक्ष इति, यथोक्तम्- '**स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। विदुषोऽशररीत्वम्।**[२७]

मीमांसादर्शनम्- मीमांसादर्शनमोक्षस्वरूपं प्रायशो न्यायवैशेषिकसदृशं मन्यते। मीमांसादर्शनानुसारेण शरीरेन्द्रियाभ्यां यदा जीवो विषयाणां सम्पर्के आयाति, तदैव तं सुखदुःखादीनामनुभवो ज्ञानं वा लभते, मुक्तात्मा शरीरेन्द्रियमनोभ्यः पृथग्भवति, अत एव तस्मिन् चैतन्यधर्मोनैव विद्यते। आत्मनोमोक्षाय केवलं स्वरूपभावादतिरिक्तं केनापि शब्देन नैव वर्णितुं शक्यते। तस्मिन् सत्तायाः तथा चैतन्यस्य निहिता शक्तिः (अवास्तविकचैतन्यः) विद्यमाना भवति। अनन्तरञ्चकैश्चित् मीमांसकैः मुक्तिः सच्चिदानन्दस्वरूपमेवास्तीति स्वीकृतवन्तः। अनेन संसारेण सहात्मनः सम्बन्धस्य विनाशस्य नाम 'मोक्षः' इत्यस्ति। 'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः' इति।

प्रभाकरमतानुसारं 'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः' इत्युक्त्वा मोक्षस्वरूपं परिभाषितमस्ति।

जैनदर्शनम्– जैनदर्शनन्तु मोक्षस्वरूपविषये वदति यत् 'पुद्गलविनाश एव मोक्षः' इति। यदा जीवस्य पुद्गलसंयोगो भवति, तदास बन्धने बद्धनाति तथा पुद्गलवियोगेन बन्धनाद्दूरे निवास एव मोक्ष इति निगदितमस्ति। पुद्गलवियोगः तदैव सम्भवो भविष्यति, यदा 'पुद्गलप्रवाहः' अर्थात् 'आस्रावः' अवरुद्धो भवति तथा यत्पुद्गलो जीवे पूर्वकालादेव प्रविष्टोऽस्ति स जीर्णतां भूयात्। तत्र पूर्वरूपं 'संवरः तथा पररूपं 'निर्जरा' इत्युच्यते। जीवे पुद्गलप्रवाहो जीवान्तनिर्हितकषायैः विद्यते। एतेषां कषायाणां कारणमज्ञानमस्ति अर्थात् अज्ञानं दूरीकरणमेव मुक्तिरित्युच्यते। जैनदर्शनमपि मोक्षशास्त्रमिति।

'सम्यग्दर्शन ज्ञानपरित्राणि मोक्षमार्गः' इति। जैनाचार्यः उमास्वामी वदति यत् त्रिरत्नान्येव मोक्षप्रदानं कुर्वन्ति। जैनदर्शने मोक्षस्यापरनाम 'कैवल्यमि' त्युच्यते। मोक्षसन्दर्भकस्यचिज्जैनदार्शनिकस्याभिमततमस्ति–

'**सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।**'[२८] कैवल्यमेतादृशी अवस्थाऽस्ति, यस्यां

निश्चितरूपेणसम्पूर्णदुःखकष्टपीडेत्यादीनां शमनस्य सामर्थ्य विद्यते, एतस्मात्कारणादेवास्याः अपरनामानि मोक्षः, मुक्तिः इत्यादीनि सन्ति।

बौद्धदर्शनम्– गौतमबुद्धेनास्य मोक्षस्य नाम 'निर्वाणमि'ति स्वग्रन्थेषु निगदितमस्ति। निर्वाणपदस्यार्थोऽस्ति 'अदीप्तमि'ति। गौतमबुद्धेन चतुर्षु आर्यसत्येषु निर्वाणप्राप्ति चतुर्थार्यसत्यरूपेण स्वीकृतोऽस्ति। बौद्धदर्शनानुसारं सर्वमनित्यमिति। अर्थात्सर्वं क्षणिकमस्ति तथा तत्र केवलं निर्वाणमेवैतादृशी वस्तु विद्यते यत्र परमशान्तिः परमसुखं विद्यते। एतत्त्रिसूत्रसिद्धान्तो बौद्धशिक्षायाः आधारोऽस्ति। तत्र स्वाष्टाङ्गिकमार्गस्य त्रिसूत्रात्मकी शिक्षा प्रज्ञाशीलत्वसमाधिश्चेति वर्तते। बौधदर्शनमोक्षप्राप्तये आष्टाङ्गिकमार्गो वर्णितोऽस्ति। बौद्धदर्शने मोक्षस्य प्रकारद्वयं वर्णितमस्ति– सदेहमुक्तिः तथा च विदेहमुक्तिः इति। इत्थं द्विविधमोक्षस्यापि अन्यनामभ्यां संज्ञायते, यथा–१. बोधिसत्वम् २. अर्हतः।

'बोधिसत्वमि' तिवृहन्नौकारूपेण वर्णितमस्ति यया जीवः स्वयमेव मुक्तो भूत्वा अन्येभ्यः मोक्षमार्गाः प्रशस्तीकरोति तथा 'अर्हतः' इति लघुनौकाऽस्तियस्यां जीवोमुक्त्यनन्तरं देहादिकं सर्वं परित्यजति। अनयोः अपरनामनि क्रमशः 'महायानं' 'हीनयानमि' ति वर्तते, ये बौद्धदर्शने सम्प्रदायद्वयरूपेणाङ्गीक्रियते। निर्वाणस्य पर्यायशब्देषु क्षेमनैष्ठिकाच्युतपदशान्तशिव–दुर्लभाजरामृतपरम्पदमित्यादयः सन्ति, यथोक्तं बुद्धचरितमित्याख्ये ग्रन्थे– **'क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतेतत्, शान्तं शिवं साक्षिकुरुष्व धर्मम्, दुर्लभशान्तमजरं परं तद्मृतं परम्पदम्।**[२९]

भगवतो बुद्धस्यान्तिमशब्दाः सन्ति, 'हे भिक्षुकाः सर्वे संस्कृतधर्माः नश्वराः। अप्रमादेन साकममृतनिर्वाणं प्राप्नुयात्। बौद्धानां दृष्टौ निर्वाणं प्रत्येकस्य प्राणिनो गन्तव्यस्थानमस्ति। तत्र गमनाय बौद्धधर्मणि आष्टाङ्गिकमार्गस्य व्याख्या कृतास्ति। अस्मिन् मार्गे गत्वा मानवः स्व दुःखानि नाशयति। अत एव समस्तमार्गेषु अमूं श्रेष्ठतमो मन्यते– **'मग्गानठगिंको सेट्ठो अर्थात् मार्गाणामष्टाङ्गिको श्रेष्ठः।**'[३०]

चार्वाकदर्शनम्– चार्वाकदर्शनस्यानुसारं देहस्य आत्मनो वा विनाश एव मोक्ष इत्युच्यते, यथा– **'देहच्छेदो मोक्षः।'**[३१] विविधचार्वाकदार्शनिकोऽपि अस्य वचनस्य परिपालनं कुर्वन्ति, यथा– **'देहस्य नाशो मुक्तिरस्तु।'**[३२]

श्रीमद्भगवद्गीतायां मोक्षस्वरूपम्– भगवता श्रीकृष्णेण श्रीमद्भगवद्गीतायां मोक्षसम्बद्धविषये इत्थमुक्तमस्ति यद् योऽन्तरात्मन्येव सुखदायको भवति, आत्मन्येव रमणको भवति तथा आत्मनो ज्ञाता, स एव ब्रह्माणं प्राप्नोति। पापरहितः, द्वैधभावरहितः, सर्वप्राणिहितैषी, कामक्रोधादिरहितः, जितेन्द्रियः, ब्रह्मवेत्ता पुरुष एव निर्वाणं मोक्षं वा प्राप्नोति। बाह्यविषयाणां भोगस्य चिन्तनं न कुर्वन् नेत्रदृष्टि भृकुटीमध्ये स्थिरीकृत्य, नासिकायां स्थितप्राणापानवायु समं कृत्वा, जितेन्द्रियो मोक्षपरायणो मुनिः यः इच्छाभयक्रोधादिभिः रहितो भूत्वा सर्वथा मुक्तो भवत्येव। यथोक्तम्–

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मनः सर्वभूतहिते रताः।।
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्वाहह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भुवोः।
प्राणापानौ समी कृत्वा नासाभ्यन्तरेचारिणी।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।[३३]

भगवच्छरणागतिः- भगवच्छ्रीकृष्णानुसारं भक्तिना साकं भगवच्छरणागत्यपि मोक्षस्य साधनमस्ति, स वदति यत् यःस्वसर्वं भगवते समर्पयति, स मनुष्यः सांसारिकबन्धनेभ्यो विमुक्तो भवति, यतो हि सांसारिकबन्धनमेव मोक्षप्राप्तेः मार्गे सर्वाधिकबाधकमस्ति। अत एव मानवं स्वकर्त्तव्यानां परिपालनं कुर्वन् सर्वाणि कर्माणि भगवदर्पणं कर्त्तव्यानीति। तथाचानन्तरं सर्वान् धर्मान्परित्यज्य ईश्वराश्रयं स्वीकरणीयम्, यथोक्तम्-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[३४]

भगवान् श्रीकृष्णो वदति यत् हे उद्धव ! आत्मा बद्धो मुक्तो वा? इति विषये बद्धमुक्तजीवस्य भेदस्य विषये वदामि (तत्र भेदो द्विविधो वर्तते नित्यमुक्तभगवतो जीवस्य भेदः तथा मुक्तबद्धजीवस्य भेदः) इति।[३५] शरीरस्योत्पत्तिमृत्युशोकमोहसुखदुःखादिकं केवलं संसारेऽस्मिन्मायारूपा विद्याद्वारैवप्रतीयते। शरीरधारकान् मुक्तेः अनुभवप्रदातृ-आत्मविद्या तथा बन्धनानुभवप्रदातृ-अविद्येति उभे ममानादिशक्ती वर्तेते। माययैवानयोः सृष्टिः बभूव।

आत्मनोऽज्ञानेन बद्धः तथा अज्ञानमिदमनादित्वेन बन्धनमपि 'अनादीः' त्युच्यते। जीवस्य अविद्यायुक्तत्वादेव नित्यबद्धोवर्तते, गुणानामभिप्रेरणयैव अज्ञानीपुरुषः मिथ्ययैवस्वं ग्रहणत्यागादिकर्मणां कर्ते'ति मन्यते तथा चाभिमानेनानेन स बन्धने निबद्धो भवति।[३६]

आत्मविद्या- शरीरधारकान्मुक्तेरनुभवप्रदातृ-आत्मविद्यायाः जीवस्तु अंशरूपेण कल्पते, वस्तुत इदं स्वरूपमस्याः एवास्ति। आत्मज्ञानेन सुसम्पन्नत्वेनतं 'मुक्तः' इति कथ्यते। ईश्वरो विद्यास्वरूपत्वेन नित्यमुक्तो भवति। विवेकीपुरुषः समस्तविषयेभ्यो विरक्तो भवति, क्रियासु कर्मसुवास्वं कर्ता नैव स्वीकरोति, प्रत्युत गुणान्नेव कर्तृरूपेणाङ्गीकरोति। 'गुणा एव सर्वेषां कर्मणां कर्तारो भोक्तारो वर्तन्ते' इति मत्वा विद्वान् पुरुषः कर्मवासनाफलेच्छादिषु नैव लिप्यते। स प्रकृतौ विद्यमाने सत्यप्यसङ्गवविद्यते, यथा स्पर्शादिभ्य आकाशतत्त्वम्, जलाऽर्द्रताऽऽदिभ्यः सूर्यः तथा

गन्धादिभ्यो वायुतत्त्वमिति। तत्त्वज्ञो मुक्तपुरुषः समदर्शी, महात्मा, गुणदोषस्तुतिनिन्दाऽऽदिभेददृष्टिरहितो भवति, स जीवन्मुक्तपुरुषः स्वव्यवहारेणस्वसदृशवृत्तिः सन्धार्यात्मानन्द एवनिमग्नो भवतीति।[३७]

महाभारतस्य शान्तिपर्वणि अष्टनवत्यधिकद्विशततमेऽध्याये तथा पराशरगीतावैदेहनरेशस्य जनकस्य विविधप्रश्नानां समाधानानि ददन् इत्थं वदति यत्–

मनःप्रणयतेऽऽत्मानं स एनमभियुञ्जति।
युक्तो यदा स भवति तदा तं पश्यते परम्।।[३८]

अर्थात् मन आत्मानं योगयाभिप्रेरयति। योगीस्वमनो योगयुक्तः (आत्मलीनः) करोति । अनेन प्रकारेण यदा स योगसिद्धिः प्राप्नोति, तदा स परमब्रह्मणः साक्षात्कारः कर्तुं समर्थो भवतीति।

'सत्सङ्गभक्तियोगौ' इति साधनद्वयस्यानुष्ठानं सर्वदा निरन्तररूपेण करणीयम्।[३९] सन्ताः मामीश्वरं प्रायः एताभ्यां साधनाभ्यां संसारसागरात्पारस्याश्रयोऽङ्गीकुर्वन्ति तथा चाहं सदैवतेषां हृदयेषु श्रद्धया विश्वासपूर्वकञ्च भक्तिभावनया सह निवसामि। सत्यभाषिणः, समदशरूसन्ताः तथा साधुसाधकाः संयम मधुर स्वभावो दारपरिमितभोजनशान्तात्मतत्त्वादिगुणैः चिन्तने सदैव संलग्ना भवन्ति। प्रमादरहित–गम्भीरस्वभाव–धैर्यवान्–बुभुक्षापिपासा–शोकमोह–जन्ममृत्युश्चेति एतान् षड्गुणान्। स्ववशीकृत्वा करुणया 'ईशावास्यमिदं सर्वमि'त्युपनिषद्वचनानामनुशरणम्'[४०] कृत्वा विश्वजनानां हृदयस्थपरमब्रह्मणः ध्यानं कुर्वन् सम्मानपूर्वकं परमतत्त्वस्य यथार्थज्ञानं स्वीकृत्य मित्रतायाः व्यवहारः करोतीति।

भगवान् वदति यदधुनाऽहं बद्धमुक्तजीवयोःको भेदः? इति विषये वदामि। तत्र भेदस्तु द्विधा। प्रथमस्तु नित्यमुक्ता ईश्वरात् जीवस्य भेदः तथा द्वितीयो मुक्तबद्धजीवस्य भेदः। तत्र प्रथमभेदविषये वदति यज्जीवो बद्धः तथा ईश्वरो मुक्तः इति सर्वत्र वर्णितमस्ति।[४१] श्रीमद्भागवतमहापुराणे मोक्षस्य दश साधनान्युक्तानि सन्ति–

मौनव्रतश्रुततपो अध्ययनस्वधर्मव्याख्या रहोजप समाधय आपवर्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां वर्ता भवन्त्युत न वात्र तुदाभिकानाम्।।[४२]

• **वाणीसंयमोमौनं वा–** मौनादधिकं विश्वेऽस्मिन् अन्यः कोऽपि तपो नैवास्ति।

• **ब्रह्मचर्यव्रतम्–** ब्रह्मचर्यस्य विधिवत्पालनेन मुक्तिः प्राप्यते, मनः, प्राणाः वीर्यश्चेति एतेषां त्रयाणां परस्परघनिष्ठसम्बन्धो वर्तते। एकस्य निरोधेन त्रयाणां निरोधो भवति। कामोत्पत्तिः मनसा भवति। मनसो निरोधेन प्राणानां तथा ब्रह्मचर्यस्यापि निरोधः सम्भवति।

• **शास्त्रश्रवणम्–** सत्शास्त्राणां स्वस्थचित्तसा श्रवणस्यानन्तरं मननिदिध्यासाभ्यामपि मुक्तिर्भवति।

• **तपः –** तपस्या देहाध्यासो समाप्यते। तपस्यायाः उत्तरोत्तरवृद्धिना ब्रह्मस्थितिर्भवति।

• **अध्ययनम्–** अध्ययनबुद्धेः व्यायामो भवति। बुद्धिं निरन्तरशास्त्रचिन्तने निमग्ने सति सा

ब्रह्मावगामिनी भविष्यति, यतो हि बुद्धे पार्श्वे ब्रह्म एव भवति।

● **स्वधर्मपालनम्-** मनुष्यं स्व-स्ववर्णाश्रमस्य धर्मस्य परिपालनं करणीयम्। स्वधर्मपालनरूपसाधनकर्मः मुक्तिसाधनमप्युच्यते।

● **शास्त्राणां व्याख्या-** प्रबलयुक्तिभिः युक्तियुक्तव्याख्यया अपि मुक्तिर्भवति यतो हि व्याख्ययावसरे बुद्धिः अत्यन्तसूक्ष्मा भवति।

● **एकान्तवासः -** यदि साधकः सांसारिककोलाहलेभ्यो दूरीभूत्वा तथा च सांसारिकजनान् बिना संसर्गः संस्थापयेत्, एकान्ते निवसन् तथा स्वात्मन्येव सन्तुष्टो भवेत्तदातं ब्रह्मणः स्पर्शमात्रमेव भविष्यति।

जपः - प्रत्येकस्मिन् मन्त्रे ऋषिदेवताछन्दांसि एतेषां त्रयाणामन्तर्भावो भवति। ऋषिः शिरसि, छन्दः मुखे तथा इष्टदेवताहृदि संस्थापयेत्। मन्त्रस्यार्थभावनया इष्टप्राप्तये साधना कुर्यादित्याशयः।

● **समाधिः -** धारणायाः परिपक्वावस्थायाः नामैव ध्यानमिति निगद्यते शास्त्रेषु तथाध्यानस्य परिपक्वावस्थामेव 'समाधिः' इत्युच्यते। समाधिना चित्तः एकाग्रीक्रियते। यदिशरीरे मलं तथा मनसि विक्षेपो नैव विद्यते तथा च बुद्धेः आवरणानि परिमार्जयेच्चेत्तदा समाधिना मोक्षप्राप्तिः निश्चितमेव भविष्यतीति। प्रकारेणानेन दशमोक्षसाधनानि विवेचितानि सन्ति। महाभारतस्य शान्तिपर्वणि अष्टनवत्यधिकद्विशततमेऽध्याये तथा पराशरगीतायां वैदेहराजजनकस्य विविधप्रश्नानां समाधानपूर्वकं प्रत्युत्तरपुरस्सरं वर्णनं यथा प्राप्यते-

वैदेहराजजनको वदति यत् 'हे ब्रह्मन् ! किं श्रेयसाधनम् ? उत्तमा गतिः का ? कः कर्मो नष्टोनैव भवति तथा कुत्र गच्छन् जीवः पुनः संसारेऽस्मिन् पुनः नैवायाति? हे महामते ! मम एतेषां समेषां प्रश्नानां समाधानं करोतु। तदा महर्षिपराशरेणोक्तं यत् 'हे राजन् ! आसक्तेरभाव एव श्रेयस्य मूलकारणमिति। ज्ञानमेव सर्वोत्तमा गतिरस्ति। स्वयमेव कृतः तपः तथा सुपात्रं प्रदत्तं दानमिति कदापि कष्टदायकोनैव भवतः।

असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परा गतिः।
चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति।।
छित्त्वाऽधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते।
दत्त्वाऽभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते।।[४३]

यो मनुष्यो यदा अधर्ममयबन्धनस्योच्छेदः कृत्वा धर्मणि अनुरक्तो भवेत्तथा सम्पूर्णप्राणीन् अभयदानं ददाति, तं तस्मिन् काल एवोत्तमसिद्धेः प्राप्तिर्भवतीति- '**मरणं जन्मनि प्रोक्तं जन्म वै मरणाश्रितम्।**'[४४] जन्मनि मृत्योः स्थितिरपि उक्ताऽस्ति तथा मरणे जन्म निहितमस्ति। यो मानवो मोक्षधर्मनैव जानाति, स अज्ञानीमनुष्यवत्संसारे आबद्धो भूत्वा जन्ममरणचक्रेऽस्मिन् सर्वथा भ्रमत्येव, किञ्च ज्ञानमार्गे गच्छन् पुरुषं न केवलं इहलोके अपितु परलोकेऽपिसुखमाप्नोति, यथोक्तम्-

अविद्वान् मोक्षधर्मेषु बद्धो भ्रमति चक्रवत्।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च।।
मनः प्रणयतेऽऽत्मानं स एनमभियुञ्जति।
युक्तो यदा स भवति तदा तं पश्यते परम्।।[४५]

मनः आत्मानं योगं प्रति प्रेरयति। योगी मनः योगयुक्तात्मनि लीनः करोति। अनेन प्रकारेण यदा स योगे सिद्धिः प्राप्नोति, तदा सतस्य परमात्मनः साक्षात्कारः करोति।

ब्रह्मतत्परमं ज्ञानममृतं ज्योतिरक्षरम्।
ये विदुर्भावितात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम्।।[४६]

ब्रह्म एतादृशैः नानागुणैर्युक्तो भवति यथा अतीताक्षरामृतस्वयंप्रकाशक ज्ञानस्वरूपञ्चास्ति। ये शुद्धान्तःकरणयुक्ताः महात्मनाः तस्मिन् विषये सम्यक्तया जानन्ति, ते निश्चितरूपेण तं परमात्मनः परमगतिं प्राप्नुवन्ति।

श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य द्वितीयेऽध्याये भगवता श्रीशुकदेवेनापि भगवतः स्थूलसूक्ष्मरूपयोः धारणायाः, क्रममुक्तेः सद्योमुक्तेश्च वर्णनं वर्णितमस्ति। तत्र स श्रीशुकदेवो वदति यत्- 'निर्मलचित्तयुक्ताः साधकाः स्वशरीरस्थहृदयाकाशे विराजमानभगवतः प्रादेशमात्रस्वरूपस्य धारणाः कुर्वन्ति।' ते एतादृशं ध्यानं कुर्वन् भगवतः पदपङ्कजेभ्यः सुचारुमुखमण्डलयुक्ताभया सहितसमस्ताङ्गानाम् एकैकशः बुद्धिसम्बद्धज्ञानस्य' इति सत्कार्यम्, इति सच्चे'ति धारणाद्वारा ध्यानं कुर्वन्ति तथैव प्रत्येकसाधकोऽपि आचरणीयम्। यदा बुद्धिद्वारा तस्मिन् साधके अनन्यप्रेममयभक्तियोगस्यान्तर्भावो भवति, तावत् साधकं नित्यनैमित्तिककर्मणामनन्तरमेकाग्रतया भगवतः उपर्युक्तस्थूलरूपस्यैव चिन्तनं कर्त्तव्यमिति।[४७]

योगीपुरुषः मनुष्यलोकस्यास्यपरित्यागः कर्तुमिच्छेच्चेत्तदा देशकालपरिस्थितिषु कदापि आसक्तिः नैव कुर्यात्। सुखपूर्वकं स्थिरासने उपविश्य प्राणवायुं नियन्त्रणं कृत्वा मनसा इन्द्रियाणां संयमः कुर्यात्। तदनन्तरं स्वनिर्मलबुद्ध्या मनः नियमितीकृत्वा मनसा सह बुद्धि क्षेत्रज्ञे तथा क्षेत्रज्ञं अन्तरात्मनि लीनः कुर्यात्। पुनः अन्तरात्मानं परमात्मनिविलीनीकृत्य धीरपुरुषं तस्यां स्थितपरमशान्त्यवस्थायां भगवद्विष्णोः परमपदस्य दायभाग्भवतीति।

ब्रह्मनिष्ठयोगिनमित्थं स्वशरीरस्य परित्यागः कर्त्तव्यः। सर्वप्रथमं पादमूलेनस्वापानद्वारस्य दमनं कृत्वा स्थिरीभूयात्तदाविचलतां बिनैव प्राणवायुं षट्चक्रभेदनरीत्या-ऊर्ध्वगत्या कपोले संस्थापयेत्। योगी क्रमशो नाभिचक्रं मणिपूरस्थवायुं हृदयचक्रम् अनाहते, तत उदानवायुद्वारा वक्षःस्थलोपरि विशुद्धचक्रे, तत्पश्चात् वायुं पुनः शनैः-शनैः कपोलस्थतालुमूले (विशुद्धीचक्रस्याग्रभागे) संस्थापयेत्। तदनन्तरं नेत्रद्वयम्, कर्णद्वयम्, नासिकाछिद्रद्वयं तथा मुखमिति सप्तछिद्राणामवरोधं कृत्वा तालुमूलस्थवायुं भृकुटीमध्ये आज्ञाचक्रे नये इति। यदि कस्मिंचिल्लोके गन्तुमिच्छा भवेच्चेत्तदा अर्धघटल यावत्तस्य वायोः तत्रैवावरोधं कृत्वा अर्थात्

स्थिरीकृत्य लक्ष्येण सहितं सहस्त्रधारचक्रेनीत्वा परमात्मनि स्थितो भूयात्। तदनन्तरं ब्रह्मरन्ध्रभेदनपुरस्सरं शरीरेन्द्रियादीनां परित्यागः कुर्यात्। आनन्दस्वरूपं शान्तं परमात्मानं प्राप्नोति। यद्भगवन्मयी परमागतेः प्राप्तिर्भवति तथा तं पुनःकलेवरेऽस्मिन् आगमनं नैव भूयात्।

उपसंहार

तेनात्मनाऽऽत्मानमुपैतिशान्तमानन्दमानन्दमयोऽवसाने।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग।।[४८]

मानवजीवनस्य सार्थकसर्वाङ्गीणविकासाय पुरुषार्थचतुष्टयस्य परमावश्यकता प्रत्येकमानवाय अनिवार्यरूपेणाङ्गीक्रियते। सम्पूर्णभारतीयवाङ्मये 'मोक्षः' इत्येवजीवनस्यान्तिममुद्देश्यमिति स्वीक्रियते, यतो हि मोक्षेनैव जीवस्य आधिभौतिकम्, आधिदैविकं तथा आध्यात्मिकमितिदुःखत्रयं निवृत्तिर्भवितुं शक्नोति। महाभारते भीष्मपितामहेनोक्तमस्ति यत्'जगदिदं जन्ममृत्युवृद्धावस्थाऽऽदिदुखैः सह नानाप्रकाररोगैः तथा मानसिकचिन्ताभिः व्याप्तमस्तीतिमत्वा विद्वान् पुरुषोमोक्षायैव सर्वदा प्रयत्नः करणीय इति।

वर्तमानसमये प्रत्येकमनुष्य आवागमनचक्रेणानेनविमुक्तं भूत्वा मोक्षस्य कामना करोति। वर्तमानकाले मानवो' मोक्षस्य का महत्ता' ? इति विषयात्परिचितोऽस्ति। मोक्षपूर्णतायाः 'स्वतः एवानन्दरूपमि' तिस्थितिरस्ति। वैयक्तिकी सामाजिकी चोभयोः स्थितयोः पुरुषार्थेषु सर्वोच्चलक्ष्यः 'मोक्षः' इति विद्यत इति। अतो महाभारतस्य एकस्यां सूक्तौकिमपि सन्देहोनैव दृश्यते यत् पुरुषार्थ चतुष्ट्यरूपधर्मार्थकाममोक्षाणां विषयेयत्किमपि अत्र वर्णितमस्ति तत्तु कुत्रापि अन्यत्र नैवोपलभ्यते, यथोक्तं वेदव्यासेन महाभारते–

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वाचित्।।[४९]

महाभारते प्रतिपादितेन मोक्षस्वरूपेण स्पष्टी भवति यद्यदा मानवं आत्मज्ञान स्यानुभूतिर्भवति, तदा स सांसारिकबन्धनेभ्यो मुक्तो भूत्वा परमात्मनि विलीनीभूय अस्मात्संसाररूपभवसागरात्पारं प्राप्नोति अर्थात् स मानवोजन्ममरणादिभिः अनेकैः प्रपञ्चैः मुक्तोभवतीति।

सन्दर्भाः

१. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २१७.२९
२. तत्त्वार्थसूत्रम्, १.१.१
३. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, ३२६.२२
४. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २७४.१८–१९
५. वृहदारण्यकोपनिषद्।
६. विष्णुमहापुराणम्।
७. सत्यार्थप्रकाशः, नवमोल्लासः, पृ. १६२
८. महाभारतम्, २१९.१२

९. महाभारतम्, २१९.१३
१०. महाभारतम्, २१९.४२
११. महाभारतम्, २१९.४४
१२. महाभारतम्, २१९.४५
१३. महाभारतम्, २१९.४९
१४. महाभारतम्, २१९.५२
१५. ऋग्वेदः, ७.५९.१२
१६. साङ्ख्यकारिका, कारिका- ६८
१७. महाभारतम्, ३०१.९७
१८. साङ्ख्यदर्शनम्, १.१
१९. साङ्ख्यकारिका, कारिका- ४४
२०. साङ्ख्यसूत्रम्, ३.२३
२१. महाभारतम्, ३०.३१
२२. महाभारतम्, ३१.३९-४१
२३. सर्वदर्शनसङ्ग्रहः, प्रो. उमाशङ्करशर्मा 'ऋषिः', पृ. ५६०
२४. न्यायभाष्यम्, १.१.२२
२५. न्यायभाष्यम्, १.१.२
२६. वैशैषिकदर्शनम्, १.१.४
२७. तैत्तिरीयोपनिषद् (शाङ्करभाष्यम्), १.११
२८. भारतीयदर्शनम्, आचार्यबलदेवोपाध्यायः, पृ. ३३४
२९. बुद्धचरितम्, १२.१०६
३०. धम्मपदम्, २०.१
३१. सर्वदर्शनसङ्ग्रहः, प्रो. उमाशङ्करशर्मा 'ऋषिः', पृ. ८
३२. भारतीयदर्शनम्, आचार्यबलदेवोपाध्यायः, पृ. ७८
३३. श्रीमद्भगवद्गीता, ५.२४-२९
३४. श्रीमद्भगवद्गीता, १८.६६
३५. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, श्लो. ११.५
३६. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, श्लो. ११.४
३७. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, स्कन्ध- १०
३८. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २९८.२२
३९. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २९८.४८
४०. ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र- १
४१. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २९८.३१
४२. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, ७.९.४६

४३. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २९८.३-४
४४. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २९८.१९
४५. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २९८.२१-२२
४६. महाभारतम्, शान्तिपर्वणि, २९६.१९
४७. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, २.१०
४८. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, २.२.३१
४९. महाभारतम्, आदिपर्वणि, ६२.५३

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, वेदव्यासः, गीताप्रेसगोरखपुरम्, पञ्चदशसंस्करणम् १९९०
- श्रीमद्भगवद्गीता, वेदव्यासः, गीताप्रेसगोरखपुरम्, पञ्चविंशसंस्करणम् १९९८
- सर्वदर्शनसङ्ग्रहः, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान, वाराणसी, १९९५
- भारतीयदर्शनम्, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, वाराणसी, १९८८
- महाभारतम्, वेदव्यासः, गीताप्रेसगोरखपुरम्, अष्टादशसंस्करणम् १९९९
- महाभारतम्, महर्षिवेदव्यासः, पुणेप्रकाशनम्, द्वादशसंस्करणम् २००७
- ईशावास्योपनिषद्, आर्षग्रन्थः, पञ्चमसंस्करणम्, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, वाराणसी, २०००
- बुद्धचरितम्, अश्वघोषः, पुष्पासंस्कृतप्रकाशनम्, नवदेहली, द्वितीयसंस्करणम्, नवदेहली, १९९१
- धम्मपदम्, जातकग्रन्थः, तृतीयसंस्करणम् १९८०
- न्यायभाष्यम्, वात्स्यायनः, बॉम्बे मैशीन प्रेस लाहौर, प्रथमसंस्करणम्, १०००
- वैशेषिकसूत्रम्, कणादमुनिः, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, वाराणसी, चतुर्थसंस्करणम् २००८
- तैत्तिरीयोपनिषद्, आर्षग्रन्थः, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, वाराणसी, चतुर्थसंस्करणम् २००२

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

महाकवि-अभिनन्दविरचितरामचरितमहाकाव्ये श्रीरामचरितम् एकमध्ययनम्

शाश्वती प्रधानः*

प्रस्तावना- श्रीरामचरितमधिकृत्य संस्कृतवाङ्मये बहुविधानि काव्यानि विरचितानि सन्ति। आदिकवेः वाल्मीकेः रामायणमहाकाव्यम् आधारीकृत्य श्रीरामचरितं चित्रयन्ति कवयः। रामचरितमहाकाव्यस्य भूमिकायां स्कन्दपुराणस्य वचनमिदमुद्धृतम्-

वाल्मीकिरभवत् ब्रह्मा वाणीवक्तृत्वरूपिणी,
चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः।
रामायणादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम्,
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिर्वहणम्।।[१] इति।

समकालिकसंस्कृतकविषु महाकवि-अभिनन्दः नवमशताब्द्यां प्रादुर्बभूव इति समीक्षकाः कथयन्ति। श्रव्यकाव्येषु महाकविः कालिदासः श्रीरामकथां वर्णितवान्। तदनन्तरं महाकविः अभिनन्दः श्रीरामकथासमाश्रितम् रामचरितमहाकाव्यं विरचितवान् इति ज्ञायते।

रामचरित-महाकाव्यपरिचयः- रामचरितकाव्ये सर्वत्र विशुद्धा वैदर्भी शैली मनोहारिच्छटामुल्लासयति। माधुर्यप्रसादगुणयोः प्रवाहः सम्पूर्णेऽपि महाकाव्ये समानरूपेणानुभूयते। वाल्मीकीयरामायणकथायाः किष्किन्धाकाण्डस्य प्रवर्षणप्रवासतः समारभ्य कुम्भनिकुम्भवधपर्यन्तं लङ्काकाण्डस्य नवीनया रीत्या नीत्या च वर्णनमविच्छिन्नतया बुद्धिपरिपाकाय मनस्सन्तोषाय च बद्धं प्रतिभाति। महाकविना षट्त्रिंशत्सर्गेषु इदं कथानकं काव्यशैल्या निबद्धम्। अनन्तरञ्च चतुश्चतुस्सर्गात्मकं परिशिष्टद्वयं योजितं वर्तते। अस्मिन् परिशिष्टद्वयेऽपि मकाराक्ष-मेघनाद-रावणप्रमुखानां युद्धे पराक्रमः रामादिभिः क्षयश्च वर्णितः।

रामचरितमहाकाव्ये श्रीरामस्य चरित्रचित्रणम्- श्रीरामचरितविषये संक्षेपरामायणमिति ग्रंथे प्रतिपादितं यत्-

''असौ श्रीरामः स्वाधीनमनाः, महापराक्रमी, कान्तिमान्, धैर्यवान्, जितेन्द्रियः, इक्ष्वाकुवंशे समुत्पन्नः जनेषु प्रसिद्धः अस्ति। स च प्रखर-प्रतिभा-सम्पन्नः, नीतिनिष्णातः, श्रेष्ठ-वक्तृत्व-सम्पन्नः, शोभावान्, शत्रुसंहारकः, महाधनुर्धरः, शुभलक्षणोपेतश्च वर्तते।''[२]

* अनुसन्धात्री, साहित्यविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः

श्रीरामो न केवलं रूपवान् किन्तु गुणवान् अपि अस्ति। सः धर्मं जानाति, सत्यम् आश्रित्य व्यवहरति। सः प्रजापालनपरः तिष्ठति, यशः वितनुते। सः ज्ञानवान् अस्ति। तदीयं चरितं पावनम् अस्ति। सः विनयं परिपालयति योगपरः च तिष्ठति। श्रीरामः मानुषत्वेऽपि ब्रह्मसमानः अस्ति। सः मर्त्यजीवनेऽपि सनातन-विभूतिसम्पन्नः अस्ति। सः धर्मव्यवस्थायाः सर्वथा परिपालकः अस्ति। तस्माद् एकतः तु जीवलोकं रक्षति तदर्थमेव च अपरतः शत्रुसमूहं विनाशयति। श्रीरामः स्वकीयं धर्मं रक्षितुं जानाति। अत एव स्व-जनान् रक्षितुमपि पारयति। सः वेद-वेदाङ्गानां तत्त्व-ज्ञानेन सहैव धनुर्वेदेऽपि निष्ठावानस्ति। श्रीरामः प्रतिभासम्पन्नः अस्ति। अत एव सर्वशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ स्मृतिमान् च अस्ति। सः विचक्षणोऽर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेकसम्पन्नः अस्ति। अत एव सः सर्वलोक-प्रिय साधु-चरितः अदीनात्मा च अस्ति।[३]

यथा समुद्रः सर्वदा नदीभिः अभिगतः तथैव श्रीरामः सर्वदा सत्पुरुषैः परिवारितः तिष्ठति। सः सर्वसुलभः सर्वेषु च तुल्यं व्यवहरति। सः सर्वावस्थासु प्रियदर्शनः एव अस्ति। सः श्रीरामः सर्वैः श्रेष्ठ-पुरुषोचितैः गुणैः संयुक्तः, कौसल्यायाः मातुः आनन्दवर्धनः, समुद्र इव गम्भीर हिमालयवत् धैर्यशाली च वर्त्तते। सः श्रीरामः पराक्रमे विष्णुसदृशः चन्द्रवत् प्रियः च दृश्यते क्रोधे प्रलयाग्निसदृशः तथा च क्षमारूपे धर्मे पृथिवीतुल्यः वर्तते। सः श्रीरामः दानकर्मणि कुबेरेण तुल्यः सत्यवचने च द्वितीया धर्मदेवता अस्ति।[४]

उत्तररामचरिते श्रीरामेण एकपत्नीव्रतस्य परिपालनं कृतमिति एक आदर्शः। कविना एतन्नाटकमाध्यमेन राज्ञः एकं आदर्शरूपं प्रस्तुतमिति द्वितीयः। स्वार्थत्यागस्य मूर्तिः तथा प्रजानुरञ्जनाय प्राणप्रियायाः सीतायाः त्यागेऽपि श्रीरामः न किञ्चिदपि सङ्कोचभावं प्रदर्शयति। महाकविः भवभूतिः अस्मिन्नाटके श्रीरामस्य चरित्रम् आदर्शपतिः, आदर्शपिता, आदर्शपुत्रः, आदर्शराजारूपेण चित्रितवान्।

रघुवंशे, श्रीरामचरितमानसे, जानकीहरणे च श्रीरामस्य चरित्रम् आदर्शपुत्रः, आदर्शशिष्यः, आदर्श-अग्रजः, दीनदुःखार्तान् प्रति सहानुभूतिशीलः, चतुरः राजनीतिज्ञः, विनयशाली, मानववादी, आदर्शमित्रं, निर्भीकः, बुद्धिमान्, निष्पापः, प्रजापतिसमः तेजवान् च। पितृभक्तः, नीतिज्ञः, इत्यादिरूपेण श्रीरामस्य चरित्रं चित्रितवन्तः कालिदास-तुलसीदास-कुमारदासादयः प्रभृतयः कवयः।

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम्।।[५] **इति।**

श्रीरामचरितमहाकाव्ये अभिनन्देनोक्तम् -

मृगाः सम्प्रति शालेयं सम्पन्नं सम्पतन्त्यमी।
साकेतमधितिष्ठन्तमर्थिनस्त्वामिवोन्मुखाः।।[६] **इति**

शरदृतौ मृगाः शस्यक्षेत्रं प्रति निर्बाधिताः आगच्छन्ति। एतदर्थं कविना श्लाघनीया उपमा दत्ता। एतानि श्रीरामं प्रति लक्ष्मणस्य वचनानि। क्षेत्रेषु आगच्छतां मृगाणां तुलना अयोध्यायां स्थित्वा श्रीरामं प्रति आगच्छद्भिः याचकैः सह कृता अस्ति। तत्र **मृगः** उपमेयः याचकश्च **उपमानः** अस्ति। अपरत्र शस्यपूर्णानि क्षेत्राणि उपमेयानि, वैभवसम्पन्नः श्रीरामश्च उपमानः अस्ति। '**इव**' इति उपमावाचकः शब्दः, '**सम्पतनम्**' इति साधारणधर्मः, अनेन उपमालङ्कारेण 'श्रीरामस्य दानशीलत्वं' बोध्यते। इदमपि व्यज्यते यत् यथा मृगाः क्षेत्रं गत्वा स्वेच्छया शस्यानि भक्षयन्ति तथा एव श्रीरामस्य कोषः याचकानां कृते सर्वदा उद्घाटितः भवति। ते यावत् इच्छन्ति तावत् धनं ग्रहीतुं शक्नुवन्ति। श्रीरामस्य कोषस्य समृद्धिः अपि अनया उपमया ध्वन्यते।

अधुनाऽपि सोऽर्पयतु राजसुतां भजतां विभीषणमधीशमिव।
सुखमस्तु मुक्तवति गर्वमरौ न शराः पतन्ति रघुवंशभुवाम्।।[७] इति

अधुनापि सः (रावणः) राजपुत्रीं सीतां समर्पयेत्, विभीषणं स्वीय राजात्वेन स्वीकुर्यात्। सः सुखी भवेत्। त्यक्ताभिमाने शत्रौ रघुवंशीनां बाणाः न पतन्ति। अर्थात् यदा शत्रुः अभिमानं त्यक्त्वा प्रणम्य आज्ञापालनार्थं सज्जोः भवति तदा रघुवंशीनां बाणाः तं लक्ष्यं न कुर्वन्ति। रघुवंशस्य एषः व्रतः कियान् उदात्तः समुचितश्च? इत्यनेन वर्णनेन व्यज्यते। अत्र श्रीरामेण रघुवंशीनाम् उत्तमव्रतस्य परिचयः प्रदत्तः।

निष्कर्षः- रामचरितमहाकाव्यस्य धीरोदात्तः नायकः भगवान् श्रीरामः रावणवधरूपं मुख्यकार्यं सम्पादयितुं सज्जः भवति। तया मुख्यफलप्राप्त्या सहैव सः अन्यानि बहूनि फलानि अपि प्राप्नोति। रावणवधं कृत्वा दिव्यकार्यस्य पूर्तिः, सम्पूर्णे विश्वे प्रसरितरावणस्य आतङ्कात् निवृत्तिः, ऋषीणां मुनीनाञ्च राक्षसेभ्यः रक्षणं, देव-गन्धर्व-यक्ष-मनुज-असुर-नागकन्यानां बन्धनात् मुक्तिः, जगति सुख-शान्तिस्थापनं, जनानां कृते इष्टस्य आदर्शस्य च रामराज्यस्य सिद्धिः, धर्मस्य उदयः, तस्य स्थापना इत्यादीनि अनेकानि कार्याणि सिद्धानि भवन्ति। एतस्य सर्वस्य श्रेयः भगवतः श्रीरामस्य भवति। अनेन तस्य महिमा अधिकाधिकं वर्धते।

श्रीमद्रामायणस्य महत्तमपि श्रीरामकर्णामृते कथितम् -

आदौ रामतपोवनादि गमनं हत्वा मृगं काञ्चनम्।
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसम्भाषणम्।।
बालीनिग्रहणं समुद्रतरणं लंकापुरीदाहनम्।
पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननं एतद्धि रामायणम्।।[८] **इति**

सन्दर्भाः

१. अभिनन्दकृत-रामचरित, भूमिका भाग, पृ. १६
२. संक्षेपरामायणम्, पृ. सं. ३७
३. संक्षेपरामायणम्, पृ. सं. ४८
४. संक्षेपरामायणम्, पृ. सं. ५७
५. श्रीरामचरितमानसः (सु.का.), श्लोक सं. १
६. रामचरितम्, १.३०
७. रामचरितम्, २६.८२
८. श्रीरामकर्णामृतम्, ४.५५

सहायकग्रन्थसूची

- रामचरितम्, छोटेलाल त्रिपाठी, भारती विद्यासंस्थानम्, वाराणसी, २००४
- संक्षेपरामायणम्, सम्पादकः बेम्पाटि कुटुम्बशास्त्री, डी. वी. प्रिंटर्स, ९७ यु.वी, जवाहर नगर, दिल्ली, २०२१
- रामचरितम्, सम्पादकः डॉ. रामजीत मिश्र, नाग पब्लिशर्स, यू. ए, जवाहर नगर, दिल्ली, २००६
- श्रीरामकर्णामृतम्, सम्पादकः आचार्य के कमला, संस्कृत परिषत् उस्मानिया विश्वविद्यालयः, हैदराबाद, २००५

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

श्रीमद्भगवद्गीतारीत्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां समीक्षणम्

अलोकबेपारी*

शोधसारः– **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'** – मूलप्रकृतिः सत्त्व रजस्तमोगुणान्विता। सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तप्रकृत्या साकं पुरुषसंयोगत्वान्मोहमयसंसारो जायते। पुरुषश्चिन्मयविशिष्टः, प्रकृत्या साकं कोऽपि सम्बन्धो नास्ति; तथापि प्रकृतेर्गुणत्रयेण प्रभावितभूत्वा कार्यं करोति। अतएव त्रिगुणसमन्वितप्रकृत्या सार्धं संश्लेषवशान्मोहमयसंसारचक्रे पुरुषो जीवो वा वर्तते। एवंरूपेण जीवस्य प्रकृतिबन्धनं सिद्ध्यति, परन्तु बन्धनं कस्यापि अभिलाषितं नास्ति, मोक्षैव सर्वेषामभीष्टविषयः। गुणत्रयाणां बन्धनान्मुक्तिरेव मोक्षः। अतएव कथं पुरुषः प्रकतिबन्धनेन आबद्धो भवति? कथमस्मात् बन्धनान्मुक्तिं प्राप्तुं शक्नोति? इति विषयाधारीकृत्य श्रीमद्भगवद्गीतायां सम्यक्तयाऽऽलोचना विद्यते। तद्विषयस्वीकृत्य शोधलेखेऽस्मिन् यथामति मया विचार्यते।

कूटशब्दाः – गुणस्वरूपः, प्रकृतिः, जीवः, सत्त्वम्, तमः, रजः, गुणातीतश्च।

उपोद्घातः– द्वापरयुगे 'हस्तिनापुर' इति नामको विश्रुतजनपदो बभूव, तत्र कौरवराजवंशेन सार्धं पाण्डवराजवंशस्य स्वाधिकारमाश्रित्य प्रायशो विवादोऽवलोकयामासे। कालचक्रेण स विवादो महायुद्धरूपत्वेन परिननाम। युद्धारम्भात्प्राक् तृतीयपाण्डवः अर्जुनो यदाधर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दुर्बुद्धेर्धार्तराष्ट्रस्य प्रियचिकीर्षवो ये समागताः सन्ति, ते सर्वे बान्धवा आत्मीयजनास्सन्तीति विषयमवलोकयति तदा तस्य गात्राणि सीदन्ति, मुखं परिशुष्यति, शरीरे वेपथुर्रोमहर्षश्च जायते, हस्ताद्गाण्डीवस्स्रंसते, मनो परिभ्रमति च। प्रसङ्गेऽस्मिन्पाण्डुपुत्रार्जुनेन प्रपञ्चितम्–

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणो हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।[१] इति।।

अतएव कुरुक्षेत्रे प्रतिपक्षत्वेन आत्मीयजनान् अवलोक्य यदाऽर्जुनो युद्धविमुखं भवितुं सिद्धान्तं स्वीकृतवान् तदा भगवता श्रीकृष्णेन धर्मस्वरूपयुद्धाभिमुखकरणार्थम् अर्जुनाय ये उपदेशा प्रदीयन्ते, अखिलसंस्कृतजगति तदेव श्रीमद्भगवद्गीता नाम्नाऽभिधीयते। इतोऽपि श्रीकृष्णार्जुनयोः कथोपकथनरूपेण श्रीमद्भगवद्गीताप्रसिद्ध्यते। अष्टादशाध्यायात्मिका श्रीमद्भगवद्गीतामहाभारतस्य भीष्मपर्वणः पञ्चविंशत्यध्यायेभ्यः द्विचत्वारिंशदध्यायेष्वन्तर्भुक्ता।

---

* अनुसन्धाता, सांख्ययोगविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः।

'अक्षरब्रह्मयोग' इति नामकेऽष्टमाध्याये पार्थः श्रीकृष्णं निकषा सप्तप्रश्नान् पृष्टवान्। तत्र तृतीयप्रश्नो भवति किन्नाम कर्म? अतः प्रकृतिपुरुषयोः का सृष्टिप्रक्रिया? इति विषयाधारीकृत्य त्रयोदशाध्याये आलोचना दरीदृश्यते। पुरुषो चिन्मयविशिष्टः, प्रकृत्या साकं कोऽपि सम्बन्धः नास्ति, तथापि प्रकृतेर्वशीभूतः सत्त्वरजस्तमोगुणेष्वासक्तिश्च भवति। परन्तु कथमेतत्सम्भवति? इति प्रश्नस्योत्तरप्रदानार्थं **'गुणत्रयविभागयोग'** इति नामकश्चतुर्दशोऽध्यायस्समुद्भासितः। अत्र गुणत्रयाणां स्वरूपं तथा च गुणत्रयेभ्यो मुक्त्युपायः सविमर्शमुपस्थापितं भगवता श्रीकृष्णेन। अधोलिखिते यथामति मयाऽऽलोच्यते –

गुणस्य स्वरूपम्– 'गुण' इति पदेन साकं घञि प्रत्ययसंयोगेन गुणशब्दो निष्पद्यते। सामान्यतया कस्यचिद्विषयस्य वस्तुनश्चोत्कर्षविधायकधर्मैव गुणः। अत्र तु 'गुणः' इति पारिभाषिकशब्दः, प्रकृतेस्त्रयोऽवयव इत्यर्थे व्यवहृतोऽस्ति। अतएव गुणपदेनाऽत्र सत्त्वं रजस्तमश्चेत्येतान्यवगम्यन्ते। सांख्यप्रतिपादितेषु पञ्चविंशतितत्त्वेषु प्रकृतिरन्यतमा। प्रकृतिरियं त्रिगुणात्मिका, सत्त्वं रजस्तमश्चेति प्रकृतेस्त्रयगुणः इत्यर्थः। एते गुणाः प्रकृतिसम्भवास्तथा चाऽव्ययं देहिनं भोगायतनेषु संयोजयन्ति। प्रसङ्गेऽस्मिन् श्रीमद्भगवद्गीतायामीक्ष्यते–

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।[२] इति।।

गुणत्रयं परस्पराभिभूतं परस्परसहचरयुक्तं परस्पराश्रयस्वरूपञ्चेति। क्षेत्रेऽस्मिन् सांख्यकारिकायामस्ति–

अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।[३] इति।

सत्त्वगुणः– 'सत्'– इति पदेन सार्धं त्व–तद्धितप्रत्ययसंयोगे सत्त्वमिति पदन्निष्पन्नञ्जातम्। सतो भावेति सत्त्वम्, तत्तु प्रकृतेर्गुणविशेषः। गुणत्रयेषु सत्त्वमिति प्रथमगुणः, प्रकाशो निर्मलश्च स्वरूपः सत्त्वगुणः। सर्वथा सर्वदा विकाररहितं दोषशून्यञ्चेति कारणात्सत्त्वन्निर्मलस्वरूपमस्ति। पुनश्च सूर्यो यथा जगत्प्रकाशयति तथैव सत्त्वगुणो जीवात्मानं प्रकाशयति, कारणादस्मात्सत्त्वं प्रकाशकमिति। सुखं ज्ञानञ्च द्वयं जीवानां मोहमयसांसारिकबन्धनस्य प्रमुखकारणमस्ति, यतः सुखेनाऽऽत्माभिमानो ज्ञानेन चाऽहंकारो जायते। अतएव गुणोऽयं जीवान् सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च संयोजयतीत्यर्थः। प्रसङ्गेऽस्मिन्नवलोक्यते श्रीमद्भगवद्गीतायाम्–

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।[४] इति।।

सत्त्वगुणस्य मुख्यधर्मद्वयमस्ति, यथा– सुखं ज्ञानञ्च। अत्र सात्त्विकसुखस्य लक्षणमुचे श्रीकृष्णेन–

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मवुद्धिप्रसादजम्।।[५] इति।

पुनश्च सात्त्विकज्ञानस्य लक्षणं प्रपञ्चितमेवम्–

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।[६] इति।।

जीवा यदा प्रमाद–आलस्य–निद्रामतिरिच्य सात्त्विकाहारादिसंयोगेन सततमात्मविषयक–चिन्तनरताः सन्ति तदा जीवानामिन्द्रियायतनेषु सत्त्वगुणस्य प्रकाशो भवति। पुनश्च सर्वेषु देहेषु सर्वेन्द्रियेषु च यस्मिङ्काले सत्त्वगुणस्य प्रकाशो जायते, तस्मिङ्काले जीवेषु सात्त्विकभावना प्रदीप्यते। अतस्तदा जीवानां चित्तेषु ज्ञानस्योद्भासनं जायते। तथा च ब्रूते–

सर्व्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।[७] इति।।

ये हिरण्यगर्भादीनामुपासका भवन्ति, ते रजस्तमोवर्जिते निर्दुःखविशिष्टे दिव्यलोके प्रतिवसन्ति। गुणस्याऽस्य प्रवृद्धकाले देहाभिमानिनो ये प्राणिनः प्रलयमाप्नुवन्ति, ते सर्वेऽपि सर्वमलरहितान् निर्दुःखान् सुखोपभोगान् स्थानविशेषान् दिव्यलोकान् च समुपलभन्ते। प्रपञ्चितमित्थम्–

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते।।[८] इति।।

रजोगुणः– 'रन्ज्' इत्यनेन सममसुन्–प्रत्यये 'रज' इति पदमुत्पद्यते, रज्यते रजतीति रजः। रजो नाम प्रकृतिगुणविशेषः। प्रकृतेस्त्रयगुणेषु अन्यतमोऽस्ति रजोगुणः, श्रीमद्भगवद्गीतायामस्य स्वरूपमीक्ष्यते–

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।[९] इति।।

अतएव रजोगुणो रागात्मकः। पुनश्च रजोगुणस्तृष्णासङ्गसमुद्भव इत्युक्ते मनुष्यचित्तेषु विषयभोगलिप्सां जनयति, जनचित्तञ्च विषयाभिमुखं करोतीत्यर्थः। अतः कामनासक्तिजातरजोगुणेन मनुजचित्तेषु विषयभोगान् प्रति कामनासक्तिरुत्पद्यते, एतेन च मनुष्येष्वहं भावोऽपि जायते। रजोगुणस्य प्रभावात्तथा च कामनासक्त्यहंकारवशान्मनुजाः कर्मबन्धनेन कर्मफलेन यदा संयोजनं भवन्ति तदा देहिनो जननमरणस्वरूपसंसारचक्रे अभीक्ष्णमावर्तन्ते।

कामात्क्रोधस्सञ्जायते, कामोऽयं खलु मनुष्याणां भयङ्करशत्रुः। रजोगुणसमुद्भवः कामो मानवेषु भोगलालसास्वरूपामग्निशिखां प्रज्वलयति। अतएव रजोगुणस्य प्राधान्ये सति कामनानिवृत्तिः कदापि न सम्भवति, पुनश्च कामोऽयं महाशनो महापाप्मा च। तथा च प्रपञ्चितमित्थम्–

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।[१०] इति।।

अग्निर्यथा काष्ठेन घृतेन च न कदापि तृप्यति तथैव कामोऽपि विषयभोगेन कदापि न तृप्यति। प्रसङ्गेऽस्मिन् अवलोक्यते–

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिबर्धते।।[११] इति।।

रजोगुणाल्लोभः सञ्जायते, अयञ्च लोभो दुःखहेतुः। अस्मात्कारणात् राजसिककर्मणो फलं दुःखमित्यर्थः। तथा चोक्तम्–

'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।'[१२] इति।

'रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानम् .....।।'[१३] इति।

रजोगुणस्याऽस्य प्रवृद्धकाले लोभः, प्रवृत्तिः, कर्मारम्भः, अशमोऽशान्तिर्वा, स्पृहा च जायन्ते। अत्र धनागमे जायमानेऽनेकविद्यमाने सति अभीक्ष्णं वर्धमानस्तदभिलाषो लोभः, निरन्तरं प्रयत्नमानता प्रवृत्तिः, कर्मणामारम्भो महागृहादिनिर्माणोद्यमः, अशमो नामेदं कृत्वेदं करिष्यामीत्यादिस्संकल्पविकल्पप्रवाहानुपरमः, उच्चावचेषु परधनेषु दृष्टमात्रं येन केनाप्युपायेनोपादित्सा स्पृहा इत्यर्थः। अतो रागात्मकस्य रजोगुणस्य वृद्धिकाले एतानि रागात्मकानि लिङ्गानि जायन्ते। तदुक्तञ्च–

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।[१४] इति।।

कालेऽस्मिन् ये जीवाः प्रञ्चतामाप्नुवन्ति, ते सर्वेऽपि जीवा भाविजन्मनि कर्मासक्तिसंयुक्तेषु मनुष्येषु योनिषु जनिष्यन्ते। तथा चाऽऽह– **'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।'**[१५] इति।

तमोगुणः– 'तम' इत्यनेन साकमसुन्–प्रत्यये 'तम' इति पदमुत्पद्यते, ताम्यत्यनेनेति तमः। पुनश्च तम इति प्रकृतिगुणविशेषोऽस्ति। श्रीईश्वरकृष्णकृतसांख्यकारिकायामस्य लक्षणमस्ति– **'गुरु वरणकमेव तमः।'**[१६] इति। क्षेत्रेऽस्मिन्नीक्ष्यते श्रीगीतायाम्–

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।[१७] इति।।

अतएव तमः अज्ञानात्तथा चाऽऽवरणशक्तिप्रधानप्रकृतेरंशाज्जातम्, सकलदेहिनामविवेकत्वेन भ्रान्तिजनकम्। इतोऽपि तमोगुणः प्रमादेन आलस्येन निद्रया च आत्मानं देहेषु निबध्नाति। अतस्सत्त्वगुणस्य कार्यं ज्ञानमाच्छाद्य जीवान् प्रमादम्, आलस्यञ्च संश्लिष्य जन्ममृत्युचक्रेऽभीक्ष्णं परिभ्रमयति तमोगुण इत्यर्थः। अतएव इत्थम्भाषितुमर्ह्यते तमोगुणोऽज्ञानेन साकं सम्बन्धितः, ज्ञानलाभेन यथाऽज्ञानं तथा तमोगुणश्च विनश्यति।

तम आख्यो गुणोऽयं सत्त्वं रजश्च गुणौ अभिभूयोद्भवति। अतएव तमोगुणस्य प्रावल्येऽप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, प्रमादः, मोहश्चेति जायन्ते। अत्राऽप्रकाशो नाम अविवेकः, कर्मस्वनिच्छा इत्यप्रवृत्तेरर्थः, कर्तव्यार्थऽनुसन्धानराहित्यं प्रमादः, मोहो नाम निद्रा विपर्ययो वा इति। तथा चोवाच–

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।[१८] इति।।

कालेऽस्मिन् तथा च गुणस्याऽस्य प्रवृद्धकाले ये जीवाः प्रलयं यान्ति, तेषां जीवानां भाविजन्मो मूढ़योनिषु पश्वादियोनिषु च भविष्यति। विषयेऽस्मिन् श्रीमद्भगवद्गीतायां परिलक्ष्यते– '**प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते।**'[१९] इति। जघन्यस्य निकृष्टस्य तमोगुणस्य वृत्तिषु निद्रालस्यप्रमादेषु स्थिता जीवा अधोगच्छन्ति। तदुक्तञ्च–'**जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।**'[२०] इति।

अतएव गुणस्याऽस्य फलमस्ति अज्ञानमिति। तदुक्तञ्च– '**.....अज्ञानं तमसः फलम्।**'[२१] इति।

गुणत्रयान्मुक्त्युपायः– अधुना कथं गुणत्रयेभ्यो मुक्तिरायाति? इति विषयोऽयमालोच्यते मया, तथा चाऽवलोक्यते–

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।[२२] इति।।

यदा जीवो निखिलजगति प्रचल्यमानसकलकर्माणि त्रिगुणात्मकप्रकृतेः कार्यरूपत्वेन जानन्ति। अतएव त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः कर्तृस्वरूपा जीवस्तु अकर्तृस्वरूपो तथा च त्रिगुणेभ्य इतरवस्तु। पुनश्च गुणत्रयेभ्यो व्यतिरिक्तं तत्साक्षिणमात्मानं विदुस्तदा ब्रह्मत्वमाप्नुवन्ति। इतोऽपि जीवोत्पत्तिबीजभूतान् मायात्मकान् सत्त्वरजस्तमोगुणान् अतिक्रम्य जन्ममृत्युजरादुःखेभ्यो मुक्तिप्राप्तिरेव परमानन्दो मोक्षो वा प्राप्तिः कथ्यते। प्रसङ्गेऽस्मिन्भगवता श्रीकृष्णेन श्रीमद्भगवद्गीतायामुच्यते।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।[२३] इति।।

परन्तु अत्रैका जिज्ञासा समुत्भासिता, तत्तु कथं गुणत्रयमतिक्रमितुमर्ह्यते? उत्तरेऽस्मिन् भगवता श्रीकृष्णेन निगदितमेवम्– सत्त्वगुणस्य कार्यं प्रकाशः, रजोगुणस्य कार्यं प्रवृत्तिः, तमोगुणस्य कार्यञ्च मोहः। गुणत्रयस्याऽस्य प्रवृत्तिकाले निवृत्तिकाले च ये जना द्वेषभावना आकाङ्क्षाश्च वर्जितास्सन्ति, ते गुणातीता अभिधीयन्ते। पुनश्चोदासीनवत्स्थितस्सन् गुणकार्यैस्तथा च सुखदुःखादिभिः यो न विचलति, सोऽपि गुणातीतः कथ्यते। इतोऽपि सुखे दुःखे प्रियेऽप्रिये लोष्ट्रेऽश्मे काञ्चने निन्दायामात्मस्तुतौ आदरेऽनादरे मित्रपक्षेऽरिपक्षे च समबुद्धिसम्पन्नाः, सर्वे

दृष्टादृष्टार्थानारम्भानुद्यमाः परित्यक्ताश्च स्वभावस्वरूपजना गुणातीता भवन्ति।

अपि चेकान्तेन भक्तियोगेन यैर्जनैः परमेश्वरस्सेव्यते, तैस्सत्त्वरजस्तमोगुणान् सम्यगतिक्रम्य ब्रह्मभावो मोक्षश्चाऽऽप्यते। प्रसङ्गेऽस्मिन् परमपुरुषश्रीकृष्णेनोवाच–

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।[२४] इति।।

उपसंहारः– गुणत्रयं परस्परविरोधधर्मस्वरूपं भवति, तथापि समग्रजगत्परिचालयति। जगति विद्यमानानि सर्वाणि वस्तूनि न्यूनाधिक्यत्वात्सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकानि भवन्ति। अतो वयं सर्वे मनुजाः अपि गुणत्रयेण आबद्धाः सन्ति, कारणादस्मादविद्या–अस्मिता–राग–द्वेष–लोभ–हिंसादयो रिपवोऽस्मदीयेषु जीवनेषु वर्तन्ते। गुणत्रयेभ्यो मुक्तिः प्राप्यते चेदुपर्युक्तरिपवः स्वयमेव विनश्यन्ति। अतएव श्रीगीतोक्तमार्गानुसरणपूर्वकं गुणत्रयेभ्यो मुक्तिं प्राप्तुं प्रचेष्टां कुर्यात्, यतो हि गुणत्रयबन्धनान्मुक्तिरेव मोक्षः। अतएव गुणत्रयरहितजनाः परमब्रह्म प्राप्तुमधिकारिणस्सन्ति। तथा च प्रपञ्चितमेवम्–

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।[२५] इति।।

।। इति शिवम्।।

सन्दर्भ

१. श्रीमद्भगवद्गीता, सम्पा. स्वामी भावघनानन्द, प्रका. उद्बोधन कार्यालय, १.४४–४५,
२. तदेव, ८.१–२
३. सांख्यकारिका, सम्पा. श्रीविपद्भञ्जन पाल, प्रका. सदेश, कारिका– १२
४. श्रीमद्भगवद्गीता सम्पा. स्वामी भावघनानन्द, प्रका. उद्बोधन कार्यालय, १४.६
५. श्रीमद्भगवद्गीता, सम्पा. स्वामी जगदीश्वरानन्दः, प्रका. उद्बोधन कार्यालय, १८.३७
६. तदेव, ८.२१–२२
७. तदेव, १४.११
८. तदेव, १४.६
९. तदेव, १४.७
१०. तदेव, ३.३७
११. श्रीमद्भागवतमहापुराण, ९.१९.१४
१२. श्रीमद्भगवद्गीता, सम्पा. स्वामी जगदीश्वरानन्दः, प्रका. उद्बोधन कार्यालय, १४.१७
१३. तदेव, १४.१६
१४. तदेव, १४.१२
१५. तदेव, १४.१५
१६. सांख्यकारिका, सम्पा. श्रीविपद्भञ्जन पाल, प्रका. सदेश, कारिका– १३

१७. श्रीमद्भगवद्गीता, सम्पा. स्वामी भावघनानन्द, प्रका. उद्बोधन कार्यालय, १४.८
१८. तदेव, १४.१३
१९. तदेव, १४.१५
२०. तदेव, १४.१८
२१. तदेव, १४.१६
२२. तदेव, १४.१९
२३. तदेव, १४.२०
२४. तदेव, १४.२२-२५
२५. तदेव, १४.२६

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

चलदूरवाणीखण्डकाव्ये रामायणस्य प्रभावः

तन्मयविश्वासः*

शोधलेखस्य सारांशः– एकविंशशतके मनुजाः सर्वदा विचरणशीलाः सन्ति, विज्ञानयुगे मानवाः विविधसोपानप्रयोगत्वात् तदीयकार्याणि गृहे उपविश्य सहजतया सरलतया च सम्पादयितुं शक्नुवन्ति। विज्ञानसृष्टोपकरणेषु **चलदूरवाणी** इति अन्यतमाऽस्ति। प्राचीनकाले यत्कार्यार्थम् अधिकसमयस्य अधिकार्थस्य च प्रयोजनम् आसीत्, इदानीन्तनकाले तत्कार्यार्थं स्वल्पसमयेन स्वल्पार्थेण च कर्तुं शक्नुमः। विषयस्यास्य विविधनिर्दशनं श्रीराधाकान्तठाकुरः तदीयप्रणीतचलदूरवाणीग्रन्थे निर्दिष्टवान्। यथा– अधुना दूरवाण्या सहजतयासंवादः सन्देशश्च द्राक् समुचितस्थानं प्रेषयितुं शक्यते। पुनश्च आत्मीयजनान् प्रियजनान् च विना जीवनयापनमतिकष्ठकरम्। यथैव प्रियजनानामानन्देषु उल्लासेषु च वयमानन्दिताः तथैव दुःखेषु दुःखिता भवन्ति। अतः कदापि प्रियजनावियोगो भवति चेत् वयं दुःखिता भीताः क्लान्ता दुर्बलाश्च सन्ति। तस्मिङ्काले जीवामि नाहम्? कुत्र गतः प्रियजनः? चेत्यादयो विविधा विचित्राः प्रश्ना मनसि समागतास्सन्ति। परन्तु साम्प्रतं **चलदूरवाणीद्वारा** आत्मीयजनेन प्रियजनेन च साकं वार्तालापं कृत्वा आत्मतुष्टिं प्राप्तुं शक्नोति। इतोऽपि आधुनिकयुगे 'लण्डन' 'न्यूयार्क' च जनपदद्वयमतीव आकर्षणीयं सुसज्जितम् अतिरमनीयञ्च अस्ति। त्रेताकाले रावणपुरी लङ्कापुरी वा न्यूयार्कतः लण्डनतः च रम्या। तत्सत्त्वेऽपि सीतायाः समीपं लङ्कापुरी दुर्विसहा ललाग। यतो हि तस्मिङ्काले चलदूरवाण्याः अभाववशात् सीता तदीयपत्या रामचन्द्रेन साकं वार्तालापं कर्तुं न शक्नोति। अतएव सर्वान्तिमे भणितुं शक्यते यत् इदानीन्तनकाले अस्मदीयजीवनेषु चलदूरवाण्याः भूमिका अनुपेक्षणीया अपरिसीमा च।

प्रस्तावना– आवैदिककालात् इदानीन्तनकालान्तं संस्कृतसाहित्यस्य क्रमविकासः अबाधगतिपूर्वकं भवति। संस्कृतसाहित्येषु दृश्य–श्रव्य–गीतिकाव्यानाम् अवदानमनस्वीकार्यम्, पुनश्च आधुनिकसाहित्यस्य भूमिका अनुपेक्षणीया। आधुनिकसंस्कृतजगति जनकरूपेण रेवाप्रसादद्विवेदी–मथुरानाथशास्त्री–प्रभाशङ्करजोशी–राधावल्लभत्रिपाठी–हर्षदेवमाधवादयः महोदयाः सुप्रसिद्धाः, तेषु प्रसिद्धेषु कविषु श्रीराधाकान्तठाकुरः अन्यतमः अस्ति। तदीयप्रणीतग्रन्थः **चलदूरवाणी** इति नाम्ना विश्रुतः, पुनश्च २०१३ तमे आङ्ग्लवत्सरे अस्मै ग्रन्थेभ्यः केन्द्रसाहित्याकदमीपुरस्कारं प्राप्तवन्तः कविराधाकान्त–ठाकुरमहोदयाः। कविराधाकान्त–ठाकुरैः दूरवाणीमाश्रित्य ग्रन्थोऽयं विरचितोऽस्ति।

---

* अनुसन्धाता, साहित्यविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः।

महादेवशिवं नमस्कृत्य ग्रन्थोऽयं प्रारभ्यते ग्रन्थकारेण। तत्र आधुनिकसमाजे दूरवाण्याः को व्यवहारः, कीदृशं सुफलम्, किं रूपं कुफलञ्चेति विषयाः सम्यक्तया आलोचिताः कविराधाकान्तठाकुरेण। तथा चोक्तम्–

राजा च मन्त्री च पदाधिकारी
चौरः श्रमी वा प्रथितोग्रवादी।
श्रेष्ठी धनी वा पुरभिक्षुको यः
सर्वस्य हस्ते चलदूरवाणी।।[१] इति।।

चलदूरवाणीखण्डकाव्यस्य सामान्यपरिचयः– काव्यपरम्परायाः यः क्रमः विभिन्नान् कालखण्डानपेक्ष्यैव स्वरूपतोऽवसीयते, अत इतिहासोऽपि तदनुरीत्या कालानुसारं तस्य पदार्थस्य स्वरूपं बोधयत्येव। अनेन इदमायातं, यत् काव्यशास्त्रस्येतिहासो स्वकीयायां परम्परायामुपपद्यते। तस्मात् काव्यशास्त्रीयपरम्परायाः कालक्रमेण विकासेव काव्यशास्त्रस्येतिहास इति फलितम्। तथैव आधुनिकव्याख्यापद्धते अत्याधुनिकं तन्त्रमिति यद्विहितं प्रथितञ्च तस्य स्वरूपं विविच्य तत्तन्त्रस्य विश्लेषणं कृतम्। बाह्यान्तरिकसामाजिकविषयेऽपि विद्यमानानि दृश्यानि दृष्ट्वा मानवः हृष्टः जायते। अतः केचन कवयः तान् स्वकृतिषु वर्णयन्ति। प्रो.राधाकान्तठाकुरमहोदयैरपि चलदूरवाणी इति काव्ये स्वाभाविकघटनां तत्र-तत्र सन्दर्भानुगुणं वर्णयित्वा स्वकीयं पाण्डित्यं प्रदर्शितं वर्तते। काव्येऽस्मिन् कविः रसामृतस्य माधुर्यम्, सत्यं-शिवं-सुन्दरञ्चेत्यस्य दिव्यपथं, राष्ट्रस्य प्रयोजनानुरूपसाहित्यस्य सृजनं, नवराष्ट्रस्य निर्माणं तथा ह्लादैकमय्याः स्फुरणं कृत्वा अत्याधुनिककाव्यपरम्परायाः संरक्षणं चकार। चलदूरवाणी इति काव्ये चलदूरवाण्याः विश्वरूपं प्रदर्शितमस्ति। नैकविधक्षेत्रेषु चलदूरवाण्याः प्रयोगः तथा चलदूरवाणी कथं मानवस्य सहभागिनी तत्सर्वमप्यत्र सन्निबद्धम्। चलदूरवाणी मानवस्य विविधावस्थायां बन्धुः, प्रियतमा, पुस्तकम्, मानचित्रम्, दूरदर्शनम्, घटिकायन्त्रम्, वैद्यः, शिक्षकः, स्मृतिवर्धकयन्त्रमादि भिन्नरूपेणसहायकं करोति तथा मानवजीवनस्य सञ्चालने एकः सुनियोयितः मार्गरूपेणपरिकल्पितोऽस्ति। अतः स्वयं कविः स्वमुखेन प्रकाश्य लिखति–

''सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेदिति- वचनं मनसिकृत्य शृङ्गाररसमयस्य काव्यस्य च परम्परायाः निर्वाहायात्र कश्चन प्रयासः कृतः।'' (चलदूरवाणी XXXV)।

रामायणस्य प्रभावः– श्रीश्रीराधाकान्तठाकुरेण विरचिते **'चलदूरवाणी'** इति खण्डकाव्ये महर्षिवाल्मीकिप्रणीतस्य रामायणम् इति नामकस्य करुणरसप्रधानमहाकाव्यस्य विविधमहत्त्वपूर्णविषयाः उपस्थाप्यन्ते। यथा– रघुनन्दनस्य परमभक्तो वीरहनुमानः सीताण्वेषणार्थं यदा गतवान्, तदा राक्षसवधादिविघ्नोपस्थितोऽभवत् हनुमानस्य सम्मुखे। परन्तु अधुना दूरवाण्या सहजतया सरलतया वा संवादः सन्देशश्च द्राक् समुचितस्थानं प्रेषयितुं शक्यते।

वीरो हि दूतो रघुनन्दनस्य
जगाम लङ्कामसुरान्निहत्य।
संवादवाहस्य सदैव बाधा
निर्विघ्नतो गच्छति दूरवाणी।।[२] इति।।

यदा मनुजास्तदीयप्रियजनविच्छेदम्, क्लान्तम्, क्षुधार्थञ्च भूत्वा जीवन्ति, तदा साहसं बलञ्च परित्यज्य दुर्बलस्वरूपा भवन्ति। यतो हि प्रियजना अस्मदीयहृदये विशेषस्थानमधिकुर्वन्ति। आत्मीयजनान् प्रियजनान् च विना जीवनयापनमतिकष्टकरम्। यथैव प्रियजनानामानन्देषु उल्लासेषु च वयमानन्दिताः तथैव दुःखेषु दुःखिता भवन्ति। अतः कदापि प्रियजनवियोगो भवति चेत् वयं दुःखिता भीताः क्लान्ता दुर्बलाश्च सन्ति। तस्मिङ्काले जीवामि नाहम्? कुत्र गतः प्रियजनः? चेत्यादयो विविधा विचित्राः प्रश्ना मनसि समागतास्सन्ति। इदानीन्तनकालवत् त्रेतायुगेऽपि विषयोऽयं दरीदृश्यते। उदाहरणस्वरूपं भाषितुं शक्यते यत् वनवासकाले यदा रावणकर्तृकः सीताहरणमभवत्, तदा रघुवंशनन्दनस्सर्वश्रेष्ठः पुरुषोत्तमो रामः तदीयप्रियपत्नीवियोगे दुःखितः क्लान्तः दुर्बलश्च बभूव। तस्मिङ्काले रामस्य मनसि अपि जावामि नाहम्? कुत्र गता मम सीता? इति प्रश्ना आगतवान्। 'सीताहरणम्' एकपरिकल्पनाया फलम्। तत्कार्यसाधनं निमेषमात्रेण न बभूव। स्वर्णमृगं प्राप्तुम् आदौ रामो गतः, तस्य पृष्ठे अनुजो लक्ष्मणोऽपि गतः। तस्मिङ्काले ब्राह्मणवेशधारीरावणः पञ्चवटीवने रामलक्ष्मणसीताकर्तकनिर्मितकुठिरस्य समीपमागत्य सीतां लक्षणरेखात् वहिराणीय अपहरणं चकार। यदि त्रेताकाले चलदूरवाणी अविद्यत तर्हि रावणकर्तृकः सीताहरणं कदापि न सम्भवत्। तदुक्तञ्च–

क्लान्तोऽतिखिन्नः क्षुधितश्च भीतः
प्रियावियोगे न नरो बलिष्ठः।
जीवामि नाहं वद कुत्र सीता
पृच्छत्यदः किं रघुवंशनाथः।।[३] इति।।

रामो गतः स्वर्णमृगाय लोभात्
तस्यानुजश्चाप्यगमच्च पृष्ठे।
सीता हृता व्यर्थगता च रेखा
यतो न हस्ते चलदूरवाणी।।[४] इति।।

आधुनिकयुगे 'लण्डन' 'न्यूयार्क' च जनपदद्वयमतीव आकर्षणीयं सुसज्जितम् अतिरमनीयञ्च अस्ति। त्रेताकाले रावणपुरी लङ्कापुरी वा न्यूयार्कतः लण्डनतः च रम्या। तत्सत्त्वेऽपि सीतायाः समीपं लङ्कापुरी दुर्विसहा ललाग। यतो हि तस्मिङ्काले चलदूरवाण्याः अभाववशात् सीता तदीयपत्या रामचन्द्रेन साकं वार्तालापं कर्तुं न शक्नोति। विषयेऽस्मिन् दरीदृश्यते यत्–

लङ्कापुरी स्वर्णमयी पुरासीत्
न्यूयार्कतो लण्डनतोऽपि रम्या।
सीता तु भीता नहि मोदते सा
यतो न हस्ते चलदूरवाणी।।[५] इति।।

उपसंहारः– प्रारम्भिककविवाल्मीकिस्य रामायणस्य प्रभावः परवर्तीनां कविनां लेखकानां च चिन्तने गहनतया अनुभूयते यत् वयं विविधकाव्येषु, महाकाव्येषु, दृश्यकाव्येषु च प्राप्नुमः। रामायणमहाकाव्ये वर्णिता पुत्रस्य पितरं प्रति भक्तिः, भ्रातुः भ्रातरं प्रति प्रेम्णः, पतिं प्रति भार्यायाः कर्तव्यम् इत्यादयः अद्यापि भारतीयेषु आदर्शरूपेण पाल्यन्ते। समग्रतया तत् वक्तुं शक्यते भारतीयसामाजिकजीवने, धर्मे, साहित्ये कलासंस्कृतौ, दर्शने सर्वत्र रामायणस्य प्रभावः अपारः अस्ति। ब्रह्मा वाल्मीकिं आशीर्वादं दत्तवान् यत्–

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।[६] इति।।

अर्थात् यावद् अस्मिन् जगति पर्वताः नद्यः च सन्ति तावत् रामायणकथा अस्मिन् लोके प्रचारिता, प्रसारिता, विद्यते च। एषः रामायणस्य आदर्शः अल्पवयसि एव चरित्रनिर्माणे सहायकः भवति, वृद्धावस्थायां धर्मप्राप्तेः स्रोतः च अस्ति। अस्माकं परिवारस्य सदस्येषु सद्सम्बन्धपरामर्शं पारिवारिकसुखं च ददाति। सामान्यतया वक्तुं शक्यते यत् एतत् पूर्वं कोटिकोटिभारतीयजीवनं प्रेरितवान्, अद्यैव करोति, भविष्ये अपि च प्रेरयिष्यति।

सन्दर्भाः

१. चलदूरवाणी– ३
२. चलदूरवाणी– ४६
३. चलदूरवाणी– ४७
४. चलदूरवाणी– ४८
५. चलदूरवाणी– ४९
६. वालमीकिरामायणम्, १.२.३६

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- ठाकुरः, राधाकान्तः, *चलदूरवाणी,* राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः, प्रथमसंस्करणम् २०१०
- *अमरकोषः*, अमरसिंहविरचितः, सम्पा. पं. हरगोविन्द-शास्त्री, चौखाम्बा संस्कृत संस्थानम्, वाराणसी।
- *हलायुधकोषः,* हलायुधविरचितः, सम्पा.जयशङ्कर-जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, द्वितीयसंस्करणम् १९६७
- *रामायणम्,* वाल्मीकिविरचितः, सम्पा. तर्करत्नवेनीमाधवः, शिल्स लाइब्रेरी, कलकाता, २०१२

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

शुक्रनीति में वर्णित वृक्षारोपण एवं पर्यावरण संरक्षण

डॉ. नरेन्द्र कुमार पाण्डेय*, रामकिशन**

शोधसार– पर्यावरण संरक्षण एवं वृक्षारोपण के विषय में शुक्रनीति ग्रन्थ का विशिष्ट महत्त्व है। शुक्रनीति ग्रन्थ में वृक्षारोपण एवं पर्यावरण संरक्षण मानव जीवन के अभिन्न अंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मानव जीवन के लोकधर्म के रूप में वृक्षारोपण को बताया गया है। प्रकृति प्रदत्त वृक्ष पर्यावरण संरक्षण के सर्वोत्तम साधन हैं। वृक्षों में वायु संशोधन एवं संरक्षण का सामर्थ्य है, वहीं दूसरी और शुद्धवायु एवं जल प्राणियों के जीवित रहने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रों में वायु को प्राण के रूप में वर्णित किया गया है–'**प्राणो वै वायुः।**' आदिकाल से ही प्रकृति तथा मनुष्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है। प्रकृति तथा प्राकृतिक उपादान मानवीय जीवन के अनिवार्य अंग रहे हैं। कालान्तर में मनुष्यों द्वारा प्राकतिक संसाधनों के असीमित एवं अज्ञानता पूर्ण दोहन, औद्योगिकीकरण एवं भौतिक ऊष्मीय जैविक अथवा रेडियो–धर्मी गुणों के द्वारा जब पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति इत्यादि पर्यावरणीय अवयवों में आवांछनीय परिवर्तन एवं विकृति उत्पन्न हुई है। जो मानव अस्तित्व के लिए संकट कारक हो गई है। हम सभी जानते हैं कि आक्सीजन के विना प्राणी क्षणमात्र के लिए भी जीवित नहीं रह सकता है। परन्तु आज हमारे सांस लेने के लिए भी शुद्ध वायु उपलब्ध नहीं है। अतः आवश्यक है कि वायु का संरक्षण किया जाए और यह तभी संभव हो सकता है जब वृक्षों का रक्षण एवं सम्पोषण होगा। इसके लिए शुक्रनीति ग्रन्थ में वर्णित वृक्षारोपण एवं पर्यावरण संरक्षण विषयक वर्णन को जानना, समझना और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसको अनुप्रयोग में लाना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से इस शोधपत्र में शुक्रनीति ग्रन्थ में वर्णित वृक्षारोपण का अध्ययन किया गया है और वर्तमान में भयावह रूप से हो रहे पर्यावरण के विघटन को रोकने एवं संरक्षण में उसकी उपयोगिता सिद्ध की गई है।

प्रमुख शब्द– पर्यावरण, वृक्षारोपण, प्रदूषण, अश्वस्थ, संरक्षण, शुक्रनीति, वृक्ष।

आमुख– वर्तमान विश्व की गम्भीर समस्याओं में पर्यावरण का विघटन सर्वाधिक चिन्तनीय विषय है। गत सौ वर्षों में जिस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हुआ है, उसने मनुष्यों के लिए एक तरफ सुविधाओं में अपार वृद्धि हुई है, वहीं दूसरी तरफ हमारा और हमारी पृथ्वी का प्राकृतिक कवच क्षीण हुआ है। पर्यावरण रूपी प्राकृतिक कवच हमारी सुविधाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

* सहायक आचार्य, संस्कृत–विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश
** शोधार्थी, संस्कृत–विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश

हमारे जीवित रहने के लिए यह उतना ही आवश्यक है जितना भोजन, पानी तथा वायु। अपनी सुविधाओं में कटौती करके भी हम जीवित रह सकते हैं, परन्तु प्रकृति प्रदत्त वायु और जल के बिना जीवित रहना असम्भव है। हम अपने इतिहास के पन्नों को पलटकर देख सकते हैं कि हमारे पूर्वज कैसे सीमित साधनों में जीवन का भरपूर आनन्द उठाते थे। परन्तु आज के मनुष्य के लिए इतिहास का कोई महत्त्व नहीं है। वह इतिहास से कुछ सीखना नहीं चाहता है। वह केवल और केवल वर्तमान में जीना चाहता है। उसको न भूत से सरोकार है और न ही भविष्य की चिंता है।

मानव अन्धाधुन्ध प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर अपने लिये सुविधाओं का अम्बार लगाने में अहर्निश उद्यमशील है, परतु उसको आभास नहीं है कि उसकी यह उद्यमशीलता पर्यावरण रूपी कवच का सर्वनाश कर रही है और इस कवच के विनष्ट हो जाने पर न केवल मनुष्य जाति का अपितु सम्पूर्ण प्राणी जगत् का अस्तित्व ही विनष्ट हो जायेगा।

मानव पर्यावरण से सम्बन्धित यह पृथ्वी तब उन तत्त्वदर्शी ऋषियों की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से अपरिचित नहीं रहा, ऋषियों ने मानव जीवन के लिए इस तत्त्व की उपयोगिता को भलीप्रकार समझा है तथा पृथ्वी तत्त्व को अत्याधिक महत्त्व दिया है। वैदिक ऋषियों ने उसे मानव की जन्मदात्री होने के कारण माता का स्थान दिया है– **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'**[१]

संस्कृत भाषा में लिखित ग्रंथों में पर्यावरण तथा प्रकृति के संरक्षण को मानव जीवन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया गया है, वेदों से लेकर आज तक पर्यवारण संरक्षण तथा वृक्षारोपण की उपयोगिता पर विशेष बल दिया गया है आज जिस गति से वृक्षों का कटान तथा पर्यावरण का हनन किया जा रहा है वह मानव जीवन तथा आने वाली पीड़ियों के लिए चुनौतीपूर्ण सिद्ध होगा। हमारे ऋषि मुनियों ने मानव के हृदय में वनों तथा वनस्पतियों के प्रति प्रीति तथा आदर का भाव जाग्रत करने के उदेश्य से उक्त विषय को मानव जीवन के आचरण, जाति, धर्म आदि का प्रतीक बताकर उनका संरक्षण सुनिश्चित करवाया। उदाहरणार्थ आज हजारों वर्ष अन्तर आधुनिक विज्ञान इस बात का पता लगा पाया है कि पीपल का वृक्ष मनुष्य जीवन के लिए अत्यंतोपयोगी आक्सीजन गैस (वायु) को प्रायः २४ घंटे प्रदान करता है। किन्तु हमारे पूर्वजों ने इस बात को साभ्यता के आदि में ही समझ लिया था। मनुष्य की स्वार्थ परायणता तथा स्वभाव को जानते हुए उन्होंने उसके संरक्षण हेतु उसे देववृक्ष नाम दे दिया अथवा पूजनीय वृक्ष आदि सम्बोधित कर उक्त वृक्ष के वैशिष्ट्य को जन साधारण के ज्ञान का विषय बनाया। इसी प्रकार तुलसी, आम, देवदार, नीम आदि वृक्षों के गुणों को प्रकाशित करते हुए उनका संरक्षण किया। इसी संदर्भ में शुक्रनीति ग्रन्थ हमारे लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण साहित्य है। इसके चतुर्थ अध्याय लोकधर्म निरूपण प्रकरण में विविध वृक्षों के रोपण एवं पोषण को मानव का परमधर्म बताया गया है।

शोधपद्धति– प्रस्तुत शोधकार्य में सर्वेक्षण, विवेचन एवं विवरणात्मक विधि का प्रयोग किया गया है। सर्वप्रथम शुक्रनीति का सर्वेक्षण कर पर्यावरण संरक्षण एवं वृक्षारोपण तथा पर्यावरण

विषयक सामग्री का संकलन किया गया है। पर्यावरण विघटन और उसके संरक्षण के संदर्भ में विश्लेषण, विवेचन और वर्णन किया गया है।

विषय विश्लेषण– पर्यावरण संरक्षण के विषय में शुक्रनीति का विशिष्ट महत्त्व है। शुक्रनीति में वृक्षों को मानव जीवन का अंग बताया गया है। इसको मानव का श्रेष्ठकर्म एवं धर्म बताया गया है। प्रकृति प्रदत्त वृक्ष पर्यावरण संरक्षण के सर्वोत्तम साधन हैं। शुक्रनीति में वृक्षों को मानव जीवन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण बताया गया है। पद्मपुराण में वृक्षारोपण की महत्ता को बताते हुए कहा गया है कि नदियों के किनारे वृक्षारोपण करने वाले व्यक्ति को अनगिनत पुण्यों की प्राप्ति होती है।

यस्तु रोचयते तीरे पुण्यवृक्षान्समन्ततः।
तस्य पुण्यं फलं ज्ञातुं कथितुं नैव शक्यते।।[२]

नदियों के किनारे वृक्ष लगाने से उन्हें अलग से जल सिञ्चन की अवश्यकता नहीं रहती। वे शीघ्रातिशीघ्र विशाल वन बन जाते हैं। उन पेड़ों से वायु संरक्षण के साथ-साथ जल एवं मृदा संरक्षण भी स्वतः हो जाता है। यही कारण है कि पद्मपुराणकार नदी अथवा जलाशय के किनारे वृक्ष लगाने का निर्देश देते हैं। वहाँ कहा गया है कि सामान्य रूप से पेड़ों को लगाने से जितना फल मिलता है उससे लाख गुणा अधिक फल जल के समीप लगाने से मिलता है।

अन्यत्र रोपणं कृत्वा शाखिनां यत्फलं लभेत्।
ततो जल समीपे तु लक्ष कोटि गुणं भवेत्।।[३]

पद्मपुराण के इन मन्त्रों के माध्यम से वृक्षारोपण को पाप और पुण्य से संपृक्त किया, जिसके फलस्वरूप भारत के लोगों के लिए अवश्यक कार्य बन गया। यह कार्य धर्म तथा संस्कृति से जुड़ गया। आज लगभग सभी पर्व-त्योहारों में किसी न किसी रूप में वृक्ष की पूजा की जाती है। विवाहोत्सव में आम्र और महुआ वृक्षों की पूजा अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। इन वृक्षों की पूजा के बिना यह उत्सव सम्पन्न ही नहीं हो सकते हैं, यहीं कारण है कि यह दोनों वृक्ष लगभग सभी भारतीय परिवार के द्वार पर देखने को मिलते हैं।

मानव जीवन के समस्त पक्षों का विवेचन करने वाले संस्कृत साहित्य की नीति परंपरा में आचार्य शुक्र विरचित शुक्रनीति में वन तथा वनस्पतियों के संरक्षण को राजकीय दायित्व बताकर निरन्तर ऋतुओं के अनुसार वृक्ष लगाने की विस्तार से चर्चा की गई है।

ग्रामे ग्राम्यान्वने वन्यान् वृक्षान् संरोपयेन्नृपः।
उत्तपान् विंशतिकरैर्मध्यमां स्तिथिः हस्ततः।।
सामन्यान्दशहस्तैश्च कनिष्ठान् पञ्चभिः करैः।
अजविगोशकृद्भिर्वा जलैर्मासैश्ध पोषयेत्।।[४]

आचार्य शुक्र ने वृक्षों को दो कोटियों में विभाजित किया है। एक जो गाँव में लगाये जाने योग्य हैं। उन्हें गाँव में लगाना चाहिए उनकी प्रकृति के अनुसार और दूसरे जो शहरों में लगाये जाने योग्य

हैं उन्हें शहरों में लगाना चाहिए। जिससे अधिक से अधिक वनों का विस्तार और वृक्षारोपण हो; क्योंकि सभी मनुष्यों का यह कर्तव्य है कि वह अधिक से अधिक वृक्षारोपण और पर्यावरण का संरक्षण करें। जिससे हमारी आने वाली पीड़ियों के लिए स्वच्छ जल और स्वच्छ वातावरण प्राप्त हो सके। हमारे नीतिग्रंथों में पर्यावरण संरक्षण और वृक्षारोपण को मानव का परम धर्म बताकर उसकी उपयोगिता और बढ़ा दी गयी है। अतः हमें अपने नीतिग्रंन्थों में वर्णित पर्यावरण संरक्षण का पालन करना चाहिए। इसी संदर्भ में शुक्रनीतिकार ने प्रकृति के संरक्षण तथा संवर्धन के क्रम में विविध वृक्षों का परिचय कराते हुए उनके नाम विकास तथा उचित स्थान के विषय में निर्देशित किया है।

खादिराश्मन्तशाकाग्निमन्थस्योनकबब्बुलाः।
तमाल-शाल-कुटज-धवार्जुन पलाशकाः।।
सप्तपर्ण-शमितुन्न-देवदारु-विकङ्कता ।
करमर्देदुदीभूर्ज-विषमुष्टि-करीरकाः ।।
शल्लकी कश्मीरी पाठा तिन्दुको बीजसारकः।
हरीतकी च भल्लातः शम्पाकोऽर्कश्च पुष्करः।।
अरिमेदश्च पीतद्रुः शाल्मालिश्च बिभीतकः।
नरवेलो महावृक्षोऽपरे ये मधुकादयः।।
प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यो गुल्मिन्यश्च तथैव च।
ग्राम्या ग्रामे वने वन्या नियोज्यास्ते प्रयत्नतः।।[५]

आचार्य शुक्र के कहने का तात्पर्य ये है कि खैर का वृक्ष, अश्मन्तक, सागौन वृक्ष (जिसकी लकड़ी प्रायः बहुत ही मजबूत तथा कठोर मानी जाती है) अरणी, सोनापाठा, बबूल, तमाल, शाल (जिनकी लकड़ी अत्यंत कठोर पायी जाती है) अर्जुन, पलाश, घव, सतवन, शमी, तून, देवदारु, विक्ल्कता, करौंदा, इंगुदी, भोजपत्र, कुचिला, करीर, स्लई, पादर, तेंदू, विजसार्क, हरद, मिलावा, शम्याक, आक, पोहकर, दुर्गन्ध, खैर, पीत्द्रू, सेम्प, बहेदा, नरवेल, महावृक्ष और अन्य जो महुआ आदि एवं प्रतान (जिनकी शाखाएँ बहुत ही लम्बी तथा पतली पायी जाती हैं) तथा गुच्छों वाली गुल्मवाली लताये हैं। उनमें से जो ग्राम में होने वाले हैं। उन्हें गाँव में और जो वनों में होने वाले हैं उन्हें वनों में यत्नपूर्वक लगाना चाहिए। इनमें से अधिकतर वृक्षों का प्रयोग धार्मिक कार्यों में भी पाया जाता है। इसके अतरिक्त नीतिकार आचार्य शुक्र ने और भी महत्त्वपूर्ण वृक्षों को बताते हुए उनकी उपयोगिता का वर्णन किया है।

उदुम्बराश्वत्थवटचिञ्चाचन्दनजम्भलाः।
कदम्बाशोकबकुल-बिल्वाम्रातकपित्थकाः।।
राजादनाम्र पुन्नाग तूदकाष्ठम्लचम्पकाः।

नीपकोकाम्र सरलदाड़िमाक्षोटभिस्सटाः।।
शिंशपाशिग्रुबदर-निम्बजम्बीरक्षीरिका।
खर्जूरदेवकरज फल्गुतापिच्छासिम्भलाः।।
कुद्दालो लवली धात्री क्रमुको मातुलुङ्ङ्कः।
लकुचो नारिकेलश्च रम्भाऽन्ये सत्फला द्रुमाः।।
सुपुष्पाश्चैव ये वृक्षा ग्रामाभ्यर्णे नियोजयेत्।
वामभागेऽथवोद्यानम कुर्य्याद् वासगृहे शुभम्।।[६]

नीतिकार आचार्य शुक्रजी को संस्कृत साहित्य में उन्हें अमृत तथा संजीवनी बूटी (औषधि) का अविष्कारक माना जाता है। आचार्य शुक्र को शुक्रनीति ग्रंथ में वर्णित वृक्षों, वनस्पतियों के अतिरिक्त अन्य औषधियाँ तथा सामान्य वृक्षों का भी ज्ञान प्राप्त था। यद्यपि वृक्षों की संख्या बहुत ज्यादा है, किन्तु आचार्य शुक ने महत्त्वपूर्ण वृक्षों का ही विवेचन किया है। आचार्य शुक्र ग्राम्य वृक्षों का निर्देश करते हुए कहते हैं- गुल्लर, पीपल, इमली, जम्ब्ल (जम्बीरी नीबू) अशोक, कदम्ब, वकुल, बिम्ब, अमला, कैंथ, दन (चिरौजी) आम, पुनाग, तुद्काश, सरल (चील) इत्यादि अन्य वृक्षों का भी निर्देश करते हैं। यथा खैर, सागवान, अरणी, सोनान्ना, पीपल, चंदन, बेर, खजूर, चम्पा, कोकम, चीड़, सुपारी, आमला, नारियल, केला आदि। उक्त सभी वृक्षों को आचार्य ने गाँव के आसपास लगाने हेतु उपयुक्त बताया है। इसके अतरिक्त अन्य वृक्षों को गाँव से दूर लगाने के निर्देश दिये हैं।

ये च कण्टकिनो वृक्षाः खादिराद्यास्तथापरे।
आरण्यकास्ते विज्ञेयास्तेषां तत्र नियोजनम्।।[७]

नीतिकार शुक्राचार्य को वास्तु का भी ज्ञान था। वर्तमान में हमारे समाज में अनेक स्थानों पर लोग कांटेदार वृक्षों को घर से दूर ही लगाते हैं। वृक्षों की विभिन्न प्रजातियों के नाम तथा गुणों का विवेचन करने के पश्चात् आचार्य शुक्र कहते हैं किसी भी प्रकार के वृक्षों की रक्षा करना राज्य के राजा तथा प्रजा दोनों का परम कर्तव्य है। अतः यथोचित वृक्षारोपण करते हुए उनका संरक्षण संवर्धन प्रत्येक मानव का कर्म है।

हमारे नीति ग्रन्थों में उक्त वृक्षों का विवेचन संभवतः इसी बात को प्रमाणित करता है कि वृक्ष प्राचीन काल से ही प्रकृति और मानव के लिए भी उपयोगी रहे हैं। आधुनिक काल में अवश्यकता इस बात की है कि हम सभी को मिलकर वृक्षारोपण एवं पर्यावरण संरक्षण हेतु आगे आना होगा। आचार्य शुक्र वृक्षों के संरक्षण के लिए विविध उपाय बताते हुए कहते हैं कि वृक्षारोपण के उपरांत उनका सिंचन भी अत्यन्त अवश्यक होता है। किस ऋतु में किस प्रकार से वृक्षों का सिंचन करना चाहिए। इसका भी विस्तार से वर्णन किया है।

सायं प्रातस्तु धर्मान्ते शीतकाले दिनान्तरे।
वसन्ते पञ्चमेऽङ्गस्तु सेव्या वर्षासु न क्वचित्।।
फलनाशे कुलुत्थैश्च माषैर्मुद्गैर्यववैस्तिलैः।
श्रुतशीलः पयः सेकः फलपुष्पाय सर्वदा।।
मत्स्याम्भसातुसेकनवृद्धिर्भवतिशाखिनाम्।
आविकाजशकृञ्चूर्ण यवचूर्ण तिलानि च।।
गोमांसमुदकञ्चेति सप्तरात्रं निधापयेत्।
उत्सेकः सर्ववृक्षाणाम् फलपुष्पादिवृद्धिदः।।[८]

यद्यपि वृक्ष उद्भिज माने जाते हैं, परन्तु उनका संरक्षण, संवर्धन भी मानव संरक्षण की भाँति ही करना चाहिए इसलिए नीतिकार शुक्राचार्य कहते हैं कि वृक्षों को शीत ऋतु में एक दिन छोड़कर हर दूसरे दिन जल से सींचना चाहिए, ग्रीष्म ऋतु में प्रातः तथा सायंकाल, वसंत ऋतु में लगभग तीन चार दिन में, किन्तु वर्षा ऋतु में जल से सींचने की अवश्यकता नहीं रहती है। किसी वृक्ष के पत्ते फूल गिरने लगे तो उनके लिए भी ग्रन्थकार ने उपाय बताया है। शुक्राचार्य का कहना है कि समय अनुसार किसी वृक्ष का विकास न हो रहा हो तो भेड़, बकरी का मल चूर्ण, तिल, जौ, गोमांस आदि को जल में मिलाकर पेड़ों की जड़ों में डालने से उसका विकास अच्छी तरह होता है। आचार्य शुक्र ने वृक्षारोपण तथा वृक्ष संरक्षण के साथ-साथ देश में विपुल जलाशय बनाने का भी निर्देश किया है जिससे जल का संरक्षण हो सके।

यथा तथा वने काश्च राष्ट्रे स्याद्विपुलं जलम्।
नदीनां सेतवः कार्या विबन्धाः सुमनोहराः।।[९]

इस प्रकार से अनेकों स्थानों पर जलाशय राज्य में बनवाने चाहिए, जिससे बहुत जल उन में भरा रहे। नदियों में पुल भी बनवाने चाहिए और नदियों को पार करने के लिए उनमें नौका आदि जलयान बनवाकर रखना चाहिए। महाकवि कालिदास की रचनाएँ प्रकृति के प्रांगण में ही प्रसिद्धि को प्राप्त करती हैं। कालिदास की शाकुन्तला प्रकृति कन्या है। प्रकृति के उपादान उसको सर्वाधिक प्रिय हैं। प्रकृति के साथ वह अपने सगे सम्बन्धियों जैसा व्यवहार करती है। आश्रम के वृक्षों को नित्य जल देना उसका व्रत था। पौधों को जल दिये विना वह स्वयं जल नहीं ग्रहण करती थी।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[१०]

इस व्रत का पालन करके वह अपनी दिनचर्या का आरम्भ करती थी। पशुओं के साथ उसका

भाई बहन जैसा व्यवहार रहता था। यह एक दृष्टान्त मात्र नहीं है, कालिदास सहित सभी संस्कृत कवियों और लेखकों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति का भरपूर महत्त्व वर्णित किया है। अतः स्पष्ट है कि नीतिकार शुक्राचार्य वृक्षों के महत्त्व से भली–भाँति परिचित थे। उन्हें ज्ञात था कि वृक्षारोपण तथा पर्यावरण संरक्षण मानव जीवन के आवश्यक उपादानों में से एक है इसके विना मनुष्य जीवन संभव नहीं है। अतः आवश्यक है कि हम पर्यावरण संरक्षण के कृत्रिम उपायों पर अत्याधिक निर्भर न होकर स्वाभाविक प्रक्रिया को अपनाएँ। प्रकृति के प्रति जन सामान्य को जागरूक करें। प्रकृति के प्रति अनगिनत उपकार के प्रति कृतज्ञ होने की संस्कृति को पुनर्जीवित करें। भारतीय नीतिसार ग्रन्थों में वर्णित पर्यावरण की शिक्षा प्रदान करें। जन्मोसत्व, विवाहोत्सव आदि पर वृक्षारोपण और उसके संरक्षण का संकल्प लें तभी पर्यावरण से हो रही हानियों से हम अपने तथा अपने समाज और आने वाली पीढ़ियों को सुरक्षित कर सकेंगे।

सन्दर्भ

१. अथर्ववेद, १२.१.१२
२. पद्मपुराण, ६०.२
३. पद्मपुराण, ६०.४
४. शुक्रनीति, चतुर्थ अध्याय, लोकधर्म निरूपण प्रकरण, ४६–४७
५. शुक्रनीति, चतुर्थ अध्याय, लोकधर्म निरूपण प्रकरण, ५८–६२
६. शुक्रनीति, चतुर्थ अध्याय, लोकधर्म निरूपण प्रकरण, ४८–५२
७. शुक्रनीति, चतुर्थ अध्याय, लोकधर्म निरूपण प्रकरण, ५७
८. शुक्रनीति, चतुर्थ अध्याय, लोकधर्म निरूपण प्रकरण, ५३–५६
९. शुक्रनीति, चतुर्थ अध्याय, लोकधर्म निरूपण प्रकरण, ६४
१०. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४–९

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

आचार्य शंकर का भाषा दर्शन

जितेन्द्र कुमार शर्मा*, डॉ. कपिल गौतम**

प्रबन्धसार (Abstract)– भारतीय व्याकरण परम्परा में आचार्य शंकर का भाषा दर्शन अद्वैत वेदान्त के महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। वे भाषा को ब्रह्म के प्रकाशन में सक्षम नहीं मानते हैं, क्योंकि भाषा सापेक्ष सत्य को ही व्यक्त कर सकती है। शंकराचार्य के विचार में ब्रह्म निरपेक्ष सत्य है, जिसे भाषा से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। भर्तृहरि और नागेशभट्ट के अनुसार वाणी की चार अवस्थाएँ होती हैं– परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी। परा वाक् शुद्ध चेतना की अवस्था है, पश्यन्ति वाक् विचारों की सूक्ष्म अवस्था है, मध्यमा वाक् मानसिक स्तर पर अनुभव की जाती है और वैखरी वाक् स्थूल उच्चारण की अवस्था है। शंकराचार्य के विचार में, भाषा का वास्तविकता तक पहुँचना असंभव है, और यह केवल व्यवहारिक जगत् में ही सीमित है। इस प्रकार आचार्य शंकर का भाषा दर्शन ब्रह्म और भाषा की सीमाओं को स्पष्ट करता है। प्रस्तुत शोधपत्र में भारतीय दर्शन परम्परा में आचार्य शंकर के योगदान को रेखांकित किया गया है।

मूल शब्द (Key Words) **:** स्वरूपम्, अर्थो, वाचः, हृदय (Heart), सम्यक्, शाश्वत, निर्विकल्प, पश्यन्ति, शक्ति (Power), शरीरम्, वैखरी, अन्धकार, सिद्ध, निमित्त, ज्ञान, संसार (Word), नाभि, परा, श्रोता, गृहीत, अवस्था।

भूमिका (Role)– भाषा मानव जीवन का अभिन्न अंग है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक, भाषा ने समाज के सांस्कृतिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतीय दर्शन और व्याकरण परम्परा में आचार्य शंकर, आचार्य भर्तृहरि और नागेशभट्ट जैसे विद्वानों ने भाषा के विभिन्न आयामों का गहन अध्ययन किया है।

आचार्य शंकर का भाषा दर्शन अद्वैत वेदान्त के सिद्धांतों पर आधारित है। वे मानते हैं कि भाषा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकती। उनके अनुसार भाषा केवल सापेक्ष सत्य का ज्ञान करा सकती है, जबकि ब्रह्म निरपेक्ष सत्य है। यह दृष्टिकोण भाषा की सीमाओं और ब्रह्म की अनंतता को स्पष्ट करता है।

आचार्य भर्तृहरि और नागेशभट्ट ने भाषा की तीन अवस्थाओं– पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी

* शोधार्थी, संस्कृत विभाग, राजस्थान वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

** सहायक-आचार्य, संस्कृत विभाग, मानविकी एवं समाजविज्ञान विद्यापीठ, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

का विस्तार से वर्णन किया है। नागेशभट्ट ने इन अवस्थाओं में चौथी अवस्था 'परा' को जोड़ा, जो योगियों की निर्विकल्पक समाधि का विषय है। इन चार अवस्थाओं के माध्यम से उन्होंने भाषा के दार्शनिक और आध्यात्मिक आयामों को स्पष्ट किया।

इस प्रबन्ध में, हम भारतीय व्याकरण परम्परा में आचार्य शंकर के भाषा दर्शन का अध्ययन करेंगे। हम यह भी देखेंगे कि भर्तृहरि और नागेशभट्ट ने वाणी के विभिन्न स्तरों का कैसे वर्णन किया है और इनका आचार्य शंकर के विचारों से क्या संबंध है? यह अध्ययन हमें भाषा की व्यापकता और उसकी सीमाओं को समझने में मदद करेगा।

वैदिक काल से ही भाषा की प्रधानता रही है। भाषा ही संसार की सर्वोत्कृष्ट ज्योति है, जो मानव हृदय के अन्धकार को दूर करती है। यह ज्ञानज्योति ही विश्व के समस्त मानवों का कार्य-कलाप सिद्ध करती है। मानव समाज में परस्पर विचार-विनिमय का साधन तथा शास्त्र और लोक की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही है। संसार की ऐसी कोई प्रतीति या विचार नहीं है, जो शब्द की सहायता के बिना आता हो, इसलिए संसार का समस्त ज्ञान मानो शब्द से अनुविद्ध होकर ही प्रकाशित होता है। अतः शब्द भावाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है। भावाभिव्यक्ति की दशा में अर्थात् भावग्रहण व भावनिर्माण उभय स्थिति में शब्द ही निमित्त है। यद्यपि शब्द बुद्धिस्थ होने के कारण अव्यक्त है, परन्तु वही शब्द इन्द्रिय ग्राह्य होने पर व्यक्त भी होता है। इसी को व्याख्यायित करते हुए भर्तृहरि ने कहा है।

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकरणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतिनां कारणं पृथक्।।[१]

आचार्य भर्तृहरि शब्द की तीन अवस्था को मानते हैं- पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी। आचार्य नागेशभट्ट ने जिसको चतुर्थ अवस्था अर्थात् 'परा' नाम दिया है, उसको भर्तृहरि तृतीय अवस्था अर्थात् पश्यन्ती की अवस्था मानते हैं, उसी से इस संसार की सृष्टि होती है।

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी।।[२]

वर्ण, पद और वाक्य का वक्ता के उच्चारण से ही शब्द निष्पत्ति होती है, जिसे 'वैखरी वाक्' कहा जाता है। यह वैखरी वाणी ही अभिव्यक्ति का माध्यम है, क्योंकि इसी अवस्था में वाणी श्रोताओं के लिए बोधगम्यता होती है। भर्तृहरि द्वारा ऋग्वेद के मंत्र में आये 'तुरीय' का अर्थ वैखरी कहा गया है- '**मनुष्यस्तु वाचस्तुरीयं चतुर्थ भाग वैखरी रूपम्।**'[३]

श्रोता के कर्णों के द्वारा गृहीत वाणी मध्यमा है, इसे अन्तः सन्निवेशिनी कहा गया है। इसका उपादान केवल मात्र बुद्धि है- '**मध्यमात्वन्तः सन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादना सा तु सूक्ष्मप्राणवृत्यनुगता क्रमप्रतिसंहार भावोऽपि....**'[४] नागेशभट्ट का कथन है- ''मध्यमा वाणी पश्यन्ति को पार हुई नाभि के हृदय पर्यन्त आते हुए वायु से अभिव्यज्य उस वाच्य अर्थ के

वाचक शब्द स्फोटरूप, श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने अयोग्य केवल जपादि में बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य या ज्ञेय होता है।''

आचार्य नागेशभट्ट ने परा और पश्यन्ती वाक् योगियों की निर्विकल्पक और सविकल्पक समाधियों का विषय मानकर मध्यमा वाक् को अर्थ का वाचक स्फोट रूप स्वीकार किया है। जिससे श्रोता की बुद्धि में अर्थ का द्योतन होता है, वह 'पश्यन्ति' है- '**प्रतिसंहृतक्रमा सत्यपभेदे समादिष्टक्रम शक्तिः पश्यन्ति।**'[५] इसे प्रतिसंहृतक्रमा कहकर इसमें क्रम का अभाव बताया गया है। इसे विशुद्धा शब्द से अभिहित करते हुए कहा गया है कि वाणी के यथार्थ ज्ञाता इसे अक्रम अर्थात् क्रम रहित रूप में समझते हैं। भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में कहा है।

अविभागातु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपं ज्योतिरिवान्तः सूक्ष्मावागनपायिनी।।[६]

वाणी के पश्यन्ति स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह सभी प्रकार के विभागों से रहित है, अक्रम है, विकारहीन है, अत्यन्त सूक्ष्म है और स्वयंप्रकाशस्वरूपा है। नागेशभट्ट का कथन है- '**नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता 'पश्यन्ति' वागुच्यते।**'[७] शाश्वत नित्य वाणी 'सूक्ष्मा वाक्' है, स्वरूप का वर्णन करते हुए नागेशभट्ट ने स्पन्दशून्या, मूलाधार में स्थित रहने वाली तथा कारण विन्दुरूपिणी स्वीकार किया है। यह निर्विकल्पक ज्ञान की स्थिति में समाधिस्थ साधक द्वारा ही ज्ञेय है- ''**तत्र मूलाधारस्थ-पवन-संस्कारीभूता, मूलाधारस्था शब्दब्रह्मरूपा, विन्दुरूपिणी स्पन्दशून्या परावाक् उच्यते।**''[८]

परा वाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ति नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।।[९]

भारतीय मनीषियों के विश्लेषण के अनुसार वाणी के चार स्तरों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसका सूक्ष्मतम अस्पष्ट रूप मूलचक्र के पास से उठता है, फिर वह नाभि के पास आकर अर्धस्पष्ट या सूक्ष्मतर रहता है। वहाँ ऊपर से उठकर वह हृदय देश में पहुँचता है, जहाँ वह और भी स्पष्ट हो जाता है तथा सूक्ष्मतर से कुछ स्थूल बनता है। उसके बाद प्राणवायु के संसर्ग से वह स्थूलतर हो कण्ठप्रदेश में पहुँचकर पूर्णस्पष्ट तथा स्थूल बन जाता है। मानव-वाणी के ये शब्द चार रूप क्रमशः सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म तथा स्थूल कहे जा सकते हैं, इन्हें ही क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहा गया है।

आचार्य नागेशभट्ट का भी कथन है कि अर्थतत्त्व के सम्यक् ज्ञान से ही वाक्-तत्त्व का ज्ञान सम्भव है। अर्थतत्त्व वाक्-तत्त्व का शरीर है, वाक्-तत्त्व आत्मा है- ''**अर्थपरिज्ञानफलाहि वाक्। सम्यक् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य। अर्थो हि वाचः शरीरम्।**''[१०] वेद में अकारादि वर्ण के दो रूप हैं- ध्वनिरूप और तात्त्विक। ध्वनिरूप वर्ण तत्त्व को प्रकाशित करता है। वेद के दो पक्ष हैं- अर्थपक्ष और भाषापक्ष। '**नामरूपे व्याकरवाणि**' इस श्रुति के अनुसार परब्रह्म परमात्मा द्वारा

नाम (पद, भाषा) और रूप (अर्थ) के रूप में सृष्टि की अभिव्यक्ति हुई।

भारतीय भाषादर्शन– भारतीय व्याकरण परम्परा में भाषा के दार्शनिक और व्याकरणिक आयामों पर अनेक मनीषियों ने गहन चिंतन और विवेचन किया है। आचार्य शंकर, भर्तृहरि और नागेशभट्ट के योगदान को समझने के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतों और व्याख्याओं का अध्ययन आवश्यक है।

आचार्य शंकर– आचार्य शंकर का दर्शन अद्वैत वेदान्त के सिद्धांतों पर आधारित है, जिसमें वे मानते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। उनके विचार में, भाषा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकती, क्योंकि ब्रह्म निरपेक्ष सत्य है और भाषा केवल सापेक्ष सत्य को ही व्यक्त करने में सक्षम है।

आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में भाषा की सीमाओं और ब्रह्म के अपार संभावनाओं के विषय में विस्तृत व्याख्या की है। वे कहते हैं कि भाषा का उपयोग केवल व्यवहारिक जगत् में ही सीमित है, और इसका अंतिम सत्य तक पहुँचना असंभव है। शंकराचार्य के अनुसार– **'यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**[११] अर्थात् जहाँ वाणी और मन की पहुँच समाप्त हो जाती है, वहाँ ब्रह्म का अनुभव होता है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में वेदांत के प्रमुख ग्रंथों, जैसे उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र, की गहन व्याख्या की है। उनके अनुसार, ब्रह्म को जानने के लिए भाषा का माध्यम पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म असीम और अनिर्वचनीय है। वे कहते हैं कि भाषा केवल हमारे अनुभवों और ज्ञान को सीमित रूप में व्यक्त कर सकती है, जबकि ब्रह्म के अनुभव की कोई सीमा नहीं है।

भर्तृहरि– भर्तृहरि का वाक्यपदीयम् भाषा के दार्शनिक और व्याकरणिक अध्ययन का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उन्होंने भाषा की तीन अवस्थाओं– पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि का विचार है।

पश्यन्ति : शब्द की सूक्ष्मतम अवस्था, जिसमें शब्द और अर्थ का विभाजन नहीं होता।

मध्यमा : शब्द की आन्तरिक धारा, जो विचारों और भावनाओं के रूप में प्रकट होती है।

वैखरी : शब्द की स्थूलतम अवस्था, जिसमें शब्द उच्चारित होते हैं और श्रवणेंद्रियों के माध्यम से ग्रहण किए जाते हैं।

नागेशभट्ट–नागेशभट्ट ने भर्तृहरि के विचारों को और विस्तार देते हुए प्रकाशिका वाक्यपदीय व्याख्या में वाणी की चतुर्थ अवस्था 'परा' का उल्लेख किया। उनके अनुसार –

परावाक् : यह वाणी की सबसे सूक्ष्म अवस्था है, जो योगियों की निर्विकल्पक समाधि का विषय है।

पश्यन्ति वाक् : नाभिचक्र में स्थित, सूक्ष्मतर अवस्था।

मध्यमा वाक् : हृदय चक्र में स्थित, मानसिक अवस्था।

वैखरी वाक् : कंठ चक्र में स्थित, स्थूलतम अवस्था।

सुरेश चन्द्र पांडे– सुरेश चन्द्र पांडे ने भारतीय दर्शन में भाषा का विकास में भारतीय भाषा और व्याकरण परम्परा का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने भाषा के विभिन्न आयामों को समझाते हुए आचार्य शंकर, भर्तृहरि और नागेशभट्ट के विचारों की समीक्षा की है।

डॉ. रामकृष्ण त्रिपाठी– डॉ. रामकृष्ण त्रिपाठी का वेदांत दर्शन और भाषा पुस्तक में आचार्य शंकर के भाषा दर्शन का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। वेदांत दर्शन के संदर्भ में भाषा की भूमिका और सीमाओं पर प्रकाश डाला गया है।

भाषा विवेचन के क्रम में वाक की व्यापकता को समझाते हुए उन्होंने ब्रह्म के समान व्यापक बताया था – '**यावद् वै ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्**'[१२] किन्तु आचार्य शंकर भाषा को उस रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कथन है कि भाषा में वो सामर्थ्य नहीं है, भाषा की पहुँच वहाँ तक नहीं है– '**यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह .....**[१३] भाषा ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकती, अपितु जिसके द्वारा भाषा का प्रकाशन होता है, वह ब्रह्म है – '**यद्वाचानभ्युदितं येन वाग्भ्युद्यते...।**'[१४] इस श्रुति के अनुसार वाक् ब्रह्म नहीं है। इस मंत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर वाक् को परिभाषित करते हैं– ''**वागीति जिह्वामूलादिश्चष्टसु स्थानेषु विशिष्टमाग्नेयं वर्णानामभिव्यञ्जकं करणम्, वर्णाश्चार्थसकेतपरिच्छिन्ना एतावन्त एव क्रमयुक्ता इति (एवं तदभिव्यङ्ग्यः शब्दः पदं वागीति उच्यते।)**''[१५] अर्थात् जिह्वामूलादि आठ स्थान (जिह्वामूल, हृदय, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु) में प्रतिभा तथा अग्नि देवता से अधिष्ठित वर्षों को अभिव्यक्त करने वाली इन्द्रिय एवं अर्थ संकेत से परिच्छिन्न और निश्चित नियम तथा निश्चित क्रम से अनुसरण करने वाले वर्ण 'वाक्' कहे जाते हैं तथा उनसे अभिव्यक्त होने वाला शब्द भी पद या 'वाक्' कहा जाता – ''**अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शान्तः सुस्थोष्मभिर्व्यजमाना बह्वी नानारूपा भवति।**''[१६] (अ. आ. २.३.७.१३) इति श्रुतेः।

आचार्य भर्तृहरि का भाषा चिंतन– आचार्य भर्तृहरि का भाषा चिंतन भारतीय दर्शन और व्याकरण परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ के बीच एक अटूट संबंध है। भर्तृहरि ने अपनी कृति 'वाक्यपदीयम्' में भाषा के विभिन्न पहलुओं पर गहन विचार किया है। उन्होंने शब्द और अर्थ के आपसी संबंध को समझाने के लिए 'स्फोट' सिद्धांत प्रस्तुत किया, जो भारतीय भाषाशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस सिद्धांत के अनुसार, शब्दों का उच्चारण केवल ध्वनि का प्रक्षेपण नहीं है, बल्कि यह अर्थ के संप्रेषण का माध्यम है।

भर्तृहरि ने शब्द की तीन अवस्थाओं– पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी का विस्तार से वर्णन किया है। भर्तृहरि का मानना है कि शब्द की उत्पत्ति और उसकी अभिव्यक्ति तीन स्तरों पर होती है।

१. पश्यन्ति :

- यह शब्द की सूक्ष्मतम अवस्था है, जिसमें शब्द और अर्थ का विभाजन नहीं होता है।

- इस अवस्था में शब्द और अर्थ एक अद्वितीय रूप में रहते हैं।
- यह अवस्था केवल योगियों और उच्च आध्यात्मिक साधकों के लिए अनुभवगम्य है।
- पश्यन्ति अवस्था में विचार और ध्वनि दोनों की समरूपता होती है और यह शब्द के मूल स्वरूप को दर्शाती है।

२. मध्यमा :

- यह अवस्था शब्द की आन्तरिक धारा को दर्शाती है, जो विचारों और भावनाओं के रूप में प्रकट होती है।
- यह अवस्था मानसिक होती है और केवल बुद्धि के माध्यम से अनुभव की जा सकती है।
- मध्यमा में शब्द और अर्थ के बीच का संबंध अधिक स्पष्ट हो जाता है।
- इसमें विचार और भावना के रूप में शब्द की आंतरिक अभिव्यक्ति होती है, जो बाह्य ध्वनि के रूप में प्रकट नहीं होती।

३. वैखरी :

- यह शब्द की स्थूलतम अवस्था है, जिसमें शब्द उच्चारित होते हैं और श्रवणेंद्रियों के माध्यम से ग्रहण किए जाते हैं।
- यही अवस्था सामान्य मानव संप्रेषण का माध्यम है।
- वैखरी में शब्द ध्वनि के रूप में प्रकट होते हैं और संवाद का माध्यम बनते हैं।
- इसमें शब्दों का भौतिक स्वरूप सामने आता है, जो दूसरों को सुनाई देता है।
- वैखरी अवस्था में शब्द का ध्वन्यात्मक और शाब्दिक रूप स्पष्ट होता है और यह भाषा के बाह्य रूप को प्रस्तुत करती है।

इन तीनों अवस्थाओं के माध्यम से भर्तृहरि ने भाषा के आंतरिक और बाह्य स्वरूप का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके विचारों ने भारतीय भाषाशास्त्र और दर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, जिससे भाषा के तत्त्वमीमांसा और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को गहराई से समझने में सहायता मिलती है।

नागेशभट्ट का भाषा चिंतन– आचार्य नागेशभट्ट ने भाषा और शब्द की व्याख्या में भर्तृहरि के विचारों को और अधिक स्पष्टता प्रदान की है। उन्होंने वाणी की चतुर्थ अवस्था 'परा' को जोड़ा, जिसे भर्तृहरि पश्यन्ति की अवस्था मानते थे। नागेशभट्ट का मानना है कि परा वाक् योगियों की निर्विकल्पक समाधि का विषय है। यह वाणी की वह अवस्था है, जिसमें शब्द और अर्थ का विभाजन पूरी तरह से समाप्त हो जाता है और केवल शुद्ध ज्ञान का अनुभव होता है।

आचार्य शंकर का भाषा चिंतन– आचार्य शंकर का दृष्टिकोण भाषा के विषय में भर्तृहरि और नागेशभट्ट से कुछ अलग है। वे मानते हैं कि भाषा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं

कर सकती है। भाषा के माध्यम से केवल सापेक्ष सत्य का ज्ञान हो सकता है, जबकि ब्रह्म निरपेक्ष सत्य है। शंकर के अनुसार, भाषा का उपयोग केवल व्यवहारिक जगत् में ही सीमित है और इसका अंतिम सत्य तक पहुँचना असंभव है। वे कहते हैं– **'यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह .....'**[१७] भाषा ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकती, अपितु जिसके द्वारा भाषा का प्रकाशन होता है, वह ब्रह्म है– **'यद्वाचानभ्युदितं येन वाग्भ्युद्यते...।'**[१८]

वाणी के विभिन्न स्तरों का विवरण

१. परा वाक् : यह वाणी की सबसे सूक्ष्म अवस्था है, जो मूलाधार चक्र में स्थित होती है। यह अवस्था शुद्ध चेतना और निर्विकल्पक समाधि का अनुभव प्रदान करती है। परा वाक् का अनुभव केवल योगियों द्वारा ही किया जा सकता है।

२. पश्यन्ति वाक् : यह वाणी की सूक्ष्मतर अवस्था है, जो नाभि चक्र में स्थित होती है। यह अवस्था विचारों और भावनाओं के स्तर पर अनुभव होती है और इसमें शब्द और अर्थ का विभाजन नहीं होता है।

३. मध्यमा वाक् : यह वाणी की मानसिक अवस्था है, जो हृदय चक्र में स्थित होती है। इस अवस्था में शब्द विचारों के रूप में प्रकट होते हैं और बुद्धि के माध्यम से अनुभव किए जा सकते हैं।

४. वैखरी वाक् : यह वाणी की स्थूलतम अवस्था है, जो कंठ चक्र में स्थित होती है। इस अवस्था में शब्द उच्चारित होते हैं और श्रवणेंद्रियों के माध्यम से ग्रहण किए जाते हैं। यही अवस्था सामान्य मानव संप्रेषण का माध्यम है।

भाषा और ब्रह्म का संबंध– आचार्य शंकर के विचार में भाषा का सीमित उपयोग है, क्योंकि यह ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकती। भाषा का प्रकाशन करने वाला ब्रह्म ही वास्तविकता है। यह दृष्टिकोण भाषा की मानविक सीमाओं और ब्रह्म की अनंतता को स्पष्ट करता है। आचार्य भर्तृहरि और नागेशभट्ट द्वारा दिए गए वाक् के विभिन्न स्तरों की व्याख्या भाषा की गहन समझ को दर्शाती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा केवल मानव संप्रेषण का साधन ही नहीं है, बल्कि एक दार्शनिक और आध्यात्मिक आयाम भी रखती है।

भाषा की सीमाएँ– आचार्य शंकर के अनुसार, भाषा की सीमाएँ उसे ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने से रोकती हैं। भाषा केवल सापेक्ष सत्य का ज्ञान कराने में सक्षम है, जबकि ब्रह्म निरपेक्ष सत्य है। यह भेद शंकर के अद्वैत वेदान्त के सिद्धांत का मूलभूत आधार है। वे मानते हैं कि भाषा केवल व्यवहारिक जगत् में ही सत्य होती है और अंतिम सत्य तक पहुँचने में असमर्थ है।

भाषा का दार्शनिक और आध्यात्मिक आयाम– भाषा का दार्शनिक और आध्यात्मिक आयाम उसकी विभिन्न अवस्थाओं में निहित है। पश्यन्ति और परा वाक् की अवस्थाएँ योगियों और

साधकों के लिए उच्चतम ज्ञान और अनुभूति के माध्यम हैं। ये अवस्थाएँ यह दर्शाती हैं कि भाषा केवल शब्दों और ध्वनियों का संग्रह नहीं है, बल्कि एक गहन आध्यात्मिक साधन भी है।

निष्कर्ष– आचार्य शंकर के विचार में भाषा का सीमित उपयोग है, क्योंकि यह ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकती। भाषा का प्रकाशन करने वाला ब्रह्म ही वास्तविकता है। यह दृष्टिकोण भाषा की मानविक सीमाओं और ब्रह्म की अनंतता को स्पष्ट करता है। आचार्य भर्तृहरि और नागेशभट्ट द्वारा दिए गए वाक् के विभिन्न स्तरों की व्याख्या भाषा की गहन समझ को दर्शाती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा केवल मानव संप्रेषण का साधन ही नहीं है, बल्कि एक दार्शनिक और आध्यात्मिक आयाम भी रखती है।

सन्दर्भ (References)

1. वाक्यपदीयम्, 1.45
2. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्ड, 1.4 की व्याख्या, पृ. 74
3. शब्दब्रह्ममीमांसा, पृ. 67
4. वाक्यपदीयम्, स्वोपज्ञवृत्ति, 1.142 से उद्धृत
5. वाक्यपदीयम्, स्वोपज्ञवृत्ति, 1.142 से उद्धृत
6. वाक्यपदीयम्, स्वोपज्ञवृत्ति, 1.142 से उद्धृत
7. परमलघुमञ्जूषा, पृ. 23
8. परमलघुमञ्जूषा का स्फोट विचार।
9. परमलघुमञ्जूषा का स्फोट विचार।
10. उद्योत।
11. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.9.1
12. ऐतरेय आरण्यक, 1.3.8
13. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.9.1
14. केनोपनिषद्, 1.4
15. वही, शाङ्कर भाष्य।
16. वही।
17. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.9.1
18. केनोपनिषद्, 1.4

संदर्भ-ग्रंथसूची (Bibliography)

- द्विवेदी, कपिलदेव, भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2003
- द्विवेदी, रामचन्द्र, भर्तृहरि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, वाराणसी, 1991
- मिश्र, शालिकनाथ, सम्पा. शास्त्री, सुब्रह्मण्यम्, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वारणसी, 1961
- दुबे, सत्यप्रकाश, पाणिनि प्रणीता, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, सं. 2004
- पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, संस्कृत साहित्य का इतिहास, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1976
- शङ्कराचार्य, (भामती, कल्पतरु, परिमल टीकाओं सहित), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं. 1982
- शर्मा, भगवती प्रसाद, भारतीय व्याकरण परम्परा का अध्ययन, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1985
- भट्ट, जयन्त कृत, सम्पा. शुक्ल, सूर्यनारायण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफ़िस, वाराणसी, सं. 1936
- भामती (वाचस्पति मिश्र), व्या. स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2005
- शर्मा, उर्मिला, अद्वैतवेदान्त में तत्त्व एवं ज्ञान, छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1994
- शास्त्री, उदयवीर, विजय कुमार गोविन्दराम, हासानंद, दिल्ली, 2003
- पाण्डेय, देवेन्द्रनाथ, वैदिक सूक्त संकलन, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2010
- शेखावत, महेन्द्र, आधुनिक चिन्तन में वेदान्त, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1986

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

कालिदास के रूपकों में भारतवर्ष

डॉ. नीमा जोशी*

संस्कृत साहित्य के उपवन में महाकवि कालिदास का समागम एक बसन्तदूत के समान हुआ है। जिसके कारण उस उपवन का कोना-कोना पल्लवित एवं पुष्पित हो उठा। संस्कृत साहित्य के आकाश में ग्रहों एवं उपग्रहों की पंक्ति में कालिदास की विद्वता अपना विशिष्ट स्थान रखती है। महाकवि कालिदास विश्व कवि हैं। विश्व साहित्य के कालजयी रूपककारों में उनकी गणना होती है। संस्कृत साहित्य के पाण्डित मंडल में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है।

पुरा कवीनां गणना प्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती वभूव।।

अर्थात् प्राचीनकाल में कवियों की गणना प्रारम्भ होने पर कनिष्ठ (छोटी उंगली) पर ही गणना रुक गई, दूसरी उंगली के लिए उनके समकक्ष कोई नाम ही नहीं लिया जा सका। आज भी उनके समान कवि के अभाव में दूसरी उंगली अनामिका नाम ही सार्थक होकर रही है।

रूपकों की निर्माण परंपरा में महाकवि भास के पश्चात् कालिदास का नाम आता है। इनके काव्यों में जैसी सरसता एवं अनूठी कल्पना शक्ति विद्यमान है, नाटकों में भी वैसी ही सांसारिक अनुभूतियों की व्यापकता, अनुपम रचना कौशल और लोक व्यवहारों की निपुणता समाविष्ट है। रूपककार भारतवर्ष की सभ्यता, संस्कृति, कला, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, भाषा, वेशभूषा, ज्ञान-विज्ञान से केवल परिचित ही नहीं थे, अपितु इनके प्रति उनमें प्रगाढ़ सम्मान की भावना अभिगमन कर रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की महान् धरोहरों की सुरक्षा करने के लिए ही उन्होंने रूपकों की सर्जना की थी। राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत उनके रूपक भारत के जन-जन को स्फूर्ति प्रदान कर राष्ट्र के लिए समर्पित होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार अभिज्ञानशाकुंतलम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा मालविकाग्निमित्रम् इन तीनों रूपकों के भरतवाक्यों में राष्ट्रीय भावना के स्वरूप को उजागर किया गया है। मानव जीवन की उपलब्धियों और सुख-दुःख तक ही महाकवि कालिदास का साहित्य सीमित नहीं है। सारे समाज की सुख-सुविधा का नहीं सम्पूर्ण सृष्टि की व्यवस्था में सुख और शान्ति की कामना उनके संगीत में समाहित है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अन्त में राजा दुष्यन्त द्वारा भरतवाक्य के रूप में व्यक्त किये गये उद्‌गार उसी की ओर संकेत करते हैं।

* संविदा शिक्षक, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय मुवानी, जनपद- पिथौरागढ़, उत्तराखण्ड।

प्रवर्त्ततां प्रकृति हिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।[१]

रूपककार की भावना रही है कि राजा प्रजा का योग-क्षेम करते रहें। अपने राष्ट्र का अच्छी प्रकार पालन पोषण करने के गुण को देखकर शकुंतला के पुत्र का नाम भरत रखते हैं।[२]

वायु पुराण में भी एक प्रसङ्ग में शकुन्तला के पुत्र का नाम भरत उद्धावित हुआ है।

चक्रवर्ती ततो राज्ञे दौष्यान्तिनृपसत्तम्।
शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्नातु भारतम्।।[३]

कालिदास के रूपकों में मालविकाग्नमित्रम् प्रथम, विक्रमोर्वशीयम् द्वितीय, अभिज्ञानशाकुंतलम् तृतीय रूपक है। जिस प्रकार आङ्ग्ल साहित्य में शेक्सपियर को सर्वोच्च कवि और रूपककार का स्थान प्राप्त है उन्होंने अपने रूपकों में महारानी एलिजाबेथ के समय की साहित्य समृद्धि को उजागर किया है ठीक उसी प्रकार संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास ने अपने रूपकों के माध्यम से तत्कालीन भारत के जनजीवन एवं सामाजिक संरचनाओं की अनुभूतियों को साकार किया है। अभिज्ञानशाकुंतलम् में जीवन के पुरुषार्थों में जो मंगलमय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित किया गया है वह पृथ्वी के स्वर्ग के धर्मों से विभूषित बनने का संदेश है- **एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्गलोकभूलोकयोरैश्वर्य यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलम् सेव्यताम्।** (गेटे)।

अभिज्ञानशाकुंतलम् महाकवि कालिदास का सर्वश्रेष्ठ रूपक है। यह मात्र एक प्रेम कथा नहीं है। शकुंतला के रूप में महाकवि कालिदास ने यह तथ्य सामने रखने की चेष्टा की है कि किस प्रकार शुद्ध हृदय निश्छल व्यक्ति आत्मनिष्ठ होने पर उपेक्षित और संकटग्रस्त हो जाता है और धैर्य तथा प्रायश्चित के द्वारा ही उसका उद्धार होता है। इस नाटक के माध्यम से महाकवि ने अभिज्ञानशाकुंतलम् की कथा को ऐसा सुंदर रूप दिया है जिसमें प्रेम का महत्त्व सर्वोपरि हो गया है। कण्व का आश्रम, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, सभी मानव के साथ इस प्रकार घुल मिल जाते हैं कि उनमें और मानव में कोई अलगाव नहीं दिखाई देता है। सारा विश्व एक परिवार के रूप में दिग्दर्शित होता है। यह स्वर्गीय प्रेम त्याग पर आश्रित है। इसी कारण इस ग्रंथ की रचना हुई।

मालविकाग्निमित्रम् एक ऐतिहासिक कथा पर आधारित नाटक है। यह रूपक राजा अग्निमित्र की प्रेम कहानी पर आधारित है। मालविकाग्निमित्रम् में शुंग वंश के काल की कला, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था आदि की उल्लेखनीय झलक मिलती है। कालिदास के लिए कथावस्तु कभी महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। राजमहल के वातावरण में राजनीतिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप उपस्थित समस्या की कथावस्तु है, किन्तु कलाकार कालिदास की लेखनी में उसे उत्कृष्ट रूपक के रूप में परिणित कर देता है।

विक्रमोर्वशीयम् भी एक सहयोग परक घटना का बढ़ा हुआ स्वरूप है। अभिज्ञानशाकुंतलम्

के समान ही प्रथम दर्शन में उर्वशी और पुरुरवा अपनी-अपनी बाजी हार जाते हैं। भौतिक प्रेम की विकलता, त्यागमय उदारता प्रेम में परिणत हो जाती है। नाटक में कथा का विकास बड़े ही रोचक ढंग से होता है और दर्शन की उत्सुकता भावी घटनाओं के प्रति निरंतर बनी रहती है। इसमें स्वर्ग में वास करने वाले पुरुरवा को राजकुमारी अप्सरा से प्यार हो जाता है, वहीं इंद्र की सभा में जब उर्वशी नाचने जाती है तो वह पुरुरवा के प्रेम की वजह से उत्कृष्ट प्रदर्शन नहीं कर पाती है जिस कारण इंद्रदेव उसे श्राप देकर धरती पर भेज देते हैं, लेकिन इस श्राप के अनुसार यदि अप्सरा का प्रेमी उसके होने वाली संतान को देख ले तो वह वापस स्वर्ग लौट सकती है। रूपककार का यह रूपक अंतिम क्षणों तक दर्शकों को बांधे रखता है और उनमें प्रेम-भावना को जागृत करता है।

अभिज्ञानशाकुंतलम् नामक रूपक महाभारत के आदि पर्व से शकुंतला की व्याख्या पर आधारित है। जिसमें राजा दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम की कथा का वर्णन है। विक्रमादित्य के नवरत्न कालिदास का रूपक अभिज्ञानशाकुंतलम् विश्व का सर्वश्रेष्ठ रूपक है। कालिदास के तीनों रूपकों का आधार प्रेम है और उनका निर्वाह अत्यंत सफलतापूर्वक हुआ है। प्रेम के अंकुरित होने, उसके विकसित होने और वियोग की स्थिति उत्पन्न होने पर उसे संभालने की प्रक्रिया अलग-अलग है। महाकवि कालिदास ने कथावस्तु के निर्वाह में जहाँ विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है वहीं पात्रों के चरित्र चित्रण में उन्हें अद्‌भुत सफलता मिली है।

वास्तव में कालिदास की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि यह है कि उन्होंने जीवन के लिए एक सुनिश्चित योजना की कल्पना की, जिसमें मनुष्य की इच्छाओं की सिद्धि की सम्यक् व्यवस्था है। युग-युग का मानव मूल रूप से संघर्ष के लिए उलझता है और मंगल मार्ग का अनुसरण कर अपने विकास की यात्रा में अग्रसर होता है। वस्तुतः लौकिक साधनाओं में प्राथमिकता का यही क्रम अङ्गीकृत कर सभी काल का मानव विश्व कल्याण की यह कामना करता आया है।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यन्तु।
सर्वकामनावाप्रोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ।।[४]

कालिदास के भारत भूमि में जन्म लेने की, वैदिक साहित्य के प्रति उनके अविरल अध्ययन की, जहाँ समग्र वैदिक धर्मों के प्रति तथा मानव मात्र के प्रति सहनशीलता का पाठ पढ़ाया जाता है। वहाँ ऋषि कहता है- **'एक सदविप्रा बहुधा वदन्ति।**[५]

रूपककार की कल्पना में भारत के प्रत्येक नागरिक का व्यक्तित्व उसी साँचे में ढला होना चाहिए जो स्वार्थ से ऊपर, विश्व के योग-क्षेम में निपुण **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** की गूँज को सार्थक करता हो। जगत् प्रसिद्ध रचना अभिज्ञानशाकुंतलम् में उन्होंने ऐसे ही आदर्श से ओत-प्रोत दुष्यंत के पुत्र भरत की प्रस्तुति की है। भरत सर्वदमन है उनके व्यक्तित्व में आज का आधिक्य है, शत्रु उनसे डरते हैं और शेर भी उनके समक्ष निर्यात पशु बन जाते हैं।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति।।[६]

भारतीय परंपरा में विनम्रता एक ऐसा गुण है जो सर्वोच्च नैतिक गुणों की श्रेणी में आता है। महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध रूपक अभिज्ञानशाकुंतलम् में राजा दुष्यंत पराक्रमी एवं शक्तिशाली होते हुए भी विनम्रता के गुणों से परिपूर्ण हैं। आश्रम में प्रवेश करते समय का यह कथन कि विनीत वेश में ही आश्रम में प्रवेश करना चाहिए यह उसकी महानता एवं विनम्रता का प्रमाण है– '**विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम।**'[७] वैखानसों के द्वारा मना करने पर– '**आश्रममृगो अयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।**'[८] वह विनम्रतापूर्वक अपने धनुष से बाण उतार लेता है। देवासुर संग्राम में वंशज दुर्जय नामक दानव का विनाश करके भी विजय का श्रेय देवराज इंद्र को ही देता है, यह उसकी विनम्रता की पराकाष्ठा है।

भारत के समस्त नर–नारियों को आज आलस्य का त्याग कर साहस और वीरता रूपी गुणों से परिपूर्ण होने की आवश्यकता है। संतान को विचारों और आदर्शात्मक कार्यों में श्रेष्ठ बनाने का निर्वहन माँ करती है। भरत की माँ शकुंतला ने सर्वदमन भरत को अदम्य साहस से निपुण बनाकर भारत की नारियों के सम्मुख स्त्री के अबलापन को निषिद्ध कर सिद्ध कर दिया है। वास्तव में भारत की नारियों में अनुकूलन की वह अपार क्षमता है कि पुरुष के आश्रय में प्रतिपल छाया पाने वाली कोमलतम नारी भी प्रतिकूल परिस्थितियों में सबल और सक्षम बन सकती है। शकुंतला भी इसी भारतीय नारी समाज का प्रतिरूप बनकर कालिदास की श्रेष्ठ रचना अभिज्ञानशाकुंतलम् में आविर्भूत हुई।

रूपककार कालिदास अखंड भारत के पूजक थे। भारत मूर्ति कला में विश्वास रखने वाला देश है। इस तथ्य को मन में रखकर अभिज्ञानशाकुंतलम् की नान्दी में उन्होंने शंकर की जिस अष्टमूर्ति की कल्पना की है वे समग्र भारत में स्थान–स्थान पर स्थापित है। शंकर की आठों मूर्तियाँ उत्तर में नेपाल से लेकर पश्चिम में काठियावाड़ से लेकर पूर्व बंगाल तक व्याप्त है, जो भारत की एकता और अखंडता को उजागर करती है– '**प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतुवस्ताभिरष्टाभिरीशः।**'[९]

कालिदास स्वतंत्र भारत की छवि से प्रेम करते हैं। उनकी रचनाओं से आश्रम को निकाल देने पर उनकी रचनाएँ प्राणवायु विहीन सी हो जाती हैं। वशिष्ठ, वाल्मीकि, मरीचि, कण्व आदि अनेक ऋषियों के आश्रमों के पवित्र वातावरण भारतीय संस्कृति की मनोरम छटा प्रस्तुत करते हैं। इन आश्रमों की आँच में तपकर निखरे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ कालिदास के पात्रों में ढलकर विश्व को भारत के चरणों में नतमस्तक होने को विवश कर देते हैं। राजा दुष्यंत ऋषियों की निश्चल, निर्बाध दिनचर्या से प्रभावित होकर प्रायः आश्रमों के सन्निकट वास किया करते थे।

राजा– सूत! नोदयाश्वान्। पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।[१०]

अभिज्ञानशाकुंतलम् का नायक भाग्यवादी प्रकृति का है इसका अर्थ यह नहीं है कि वह पुरुषार्थ या कर्म पर विश्वास नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि भारतीय समाज पुरुषार्थवादी होते हुए भी भाग्य विश्वासोन्मुखी है जिसका प्रभाव रूपक के नायक में दिखलाई पड़ता है। कण्व ऋषि

के आश्रम में प्रवेश करते समय शुभ शकुन सूचित करता हुआ कहता है कि– यह आश्रम पूर्णरूपेण शांत है और मेरी दाहिनी भुजा फड़क रही है। यहाँ आश्रम में इसका फल कैसे प्राप्त हो सकता है अथवा होनहार के द्वार सर्वत्र खुले रहते हैं।

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।।[११]

राजा सदैव अपनी प्रजा के हित में संलग्न रहता है। अभिज्ञानशाकुंतलम् में राजा दुष्यंत प्रजा का पालन अपनी संतान की तरह करता है– '**प्रजाः प्रजाः स्वा इव तंत्रयित्वा।**'[१२]

महाकवि कालिदास ने शकुंतला और भारतीय प्रकृति का इतना सामीप्य प्रस्तुत किया है कि मानो शकुंतला और प्रकृति एकाकार हो गये हों। उनका जन्म मालती नदी के तट पर होना, पक्षियों द्वारा जीवन दान देना, वृक्ष सिंचन कार्य करते समय मुंह बोली बड़ी बहन का स्वयंवर, वधू वन ज्योत्सना से भ्रमर का निगमन, पीछे छिपे हुए दुष्यंत की ओर संकेत, वन ज्योत्सना द्वारा मिलन कराना, इन सब क्रियाकलापों के माध्यम से उसका निसर्ग के साथ तादात्मय स्पष्ट होने लगा था।[१३]

रूपक की नायिका शकुंतला आश्रम में आए हुए अतिथियों का सत्कार करती है, आश्रम के वृक्षों तथा वनस्पतियों की देखभाल करती है। पशु–पक्षियों के भोजन से लेकर रुग्णता पर उपचार आदि सारे कार्य हृदय से संपादित करती है। इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर राजा दुष्यंत ने शकुंतला को अन्तःपुर की रानियों से श्रेष्ठ माना है।[१४] टैगोर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "क्या आज की किसी आदर्शतम नारी में शकुंतला की जैसी समानता है? उसकी जैसी सहिष्णुता और कर्तव्यपरायणता है? नहीं। तभी तो शकुंतला अनुपम है, असाधारण है, अद्वितीय है, मानवीय होते हुए भी दिव्य है, देवी होते हुए भी नारी है।"

कालिदास के रूपकों में राष्ट्र की आत्मा प्रति कल्पित है। वे राष्ट्र की ज्ञान गौरववर्धिनी संस्कृत भाषा की समृद्धि के प्रति अनवरत कार्यशील थे। वह चाहते थे कि संस्कृत भाषा में रचना करने वाले कवियों की वाणी का सर्वत्र समादर हो। भगवान् शिव की कृपा से कविगण पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त होकर जीवन के अंतिम उच्चतम लक्ष्य मोक्ष रूपी पुरुषार्थ को प्राप्त करें। इसी में भारत का कल्याण है।[१५] इस प्रकार कालिदास यथार्थ के धरातल पर राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानकर राष्ट्र की जनता को सही मार्ग निर्देश देते हैं। उनकी रचनाओं का फलक विशाल है, राष्ट्र से भी व्यापक, समग्र विश्व के कल्याण की भावना से ओत–प्रोत है। उनकी सार्वभौम दृष्टि राष्ट्रीय मंगलकामना को उजागर करती है।

महाकवि कालिदास उस काल का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें जीवन अत्यंत जटिल, मानवीय विचार संयमित तथा सामाजिक संबंध प्रतिबंधित थे। अतः कालिदास ने तत्कालीन समाज को विशिष्ट एवं सुसंस्कृत समाज की ओर उन्मुख किया। कालिदास के रूपकों में तत्कालीन समाज का जो प्रतिबिंब प्रस्तुत किया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके रूपकों में भारतीय संस्कृति को

दिग्दर्शित किया गया है। वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था एवं परिवार को उन्होंने अपने रूपकों के माध्यम से प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज के जीवन को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

कालिदास ने प्रेम और सुंदरता की जिन लहरों को अपनी रचनाओं में प्रवाहित किया है वह युग-युगों तक मानव समाज को मनोमुग्ध करती रहेगी। कालिदास समग्र मानवीय मूल्यों के मनोमय कोष के मधुर एवं मनस्वी गायक हैं। कालिदास भारत के आदरणीय तथा स्पृहणीय कवि, रूपककार होने के साथ-साथ अपूर्व गौरव हैं। कालिदास की सुंदर सरस भाषा, प्रेम और विरह की अभिव्यक्ति और प्रकृति चित्रण से पाठक मंत्र मुग्ध और भाव विभोर होते हैं- '**स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।**' इस उक्ति के अनुसार कालिदास अपनी प्रतिभा एवं विद्वता के कारण स्वदेश के बाहर भी विद्वानों की अगाध श्रद्धा और आदर के पात्र बन गये।

इस प्रकार महाकवि कालिदास ऐसे युग के प्रारम्भ में आविर्भूत हुए थे जब भारत उपनिषदों से पुराणों की ओर अग्रसर हो रहा था। भारत के महान् सांस्कृतिक परंपराओं से चमत्कृत कालिदास ने भारतवर्ष की भौतिक मनःस्थिति के व्याख्याता बनाकर स्वरचित रूपकों में राष्ट्रीयता का पोषण किया। भारतवर्ष के प्रति जो आत्मीयता और कृतज्ञता कालिदास के रूपकों (नाटकों) में दृष्टिगत होती है वह उन्हें राष्ट्रीय कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

सन्दर्भ

१. अभिज्ञानशाकुंतलम्, ७.३४
२. अभिज्ञानशाकुंतलम्, ७.३३
३. वायुपुराण, ९९.११३
४. विक्रमोर्वशीयम्, ५.२५
५. ऋग्वेद, १.१६४.४६
६. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७.१४
७. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- १, पृ. सं. ६९
८. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.१०
९. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.१
१०. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- १, पृ. सं. ६७
११. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.१४
१२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५.५
१३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४.९
१४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४.१०
१५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क- ७, भरतवाक्य।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य का वैशिष्ट्य

प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित*

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।[१]

वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपनी-अपनी आत्मा को प्रिय और संतोष यह चारों साक्षात् धर्म के लक्षण हैं। वेद भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। ज्ञानार्थक विद् धातु से निष्पन्न वेद शब्द का अर्थ है- ज्ञान। वेद अपौरुषेय हैं यह सर्वविदित है। वेदों में मानव जीवन से संबंधित संपूर्ण व्यवस्थाओं जैसे- धार्मिक, सामाजिक और राजनीति का विधान विद्यमान है। अखिल जगत् के सभी विद्वान् निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद विश्व की सृष्टि की प्रथम अभूतपूर्व सर्व सार्थक रचना है। किंतु भारतीय सनातन परंपरा तो यह मानती आ रही है कि जब परमात्मा ने सृष्टि की रचना की और सृष्टि की रचना के साथ-साथ ही वेदों को भी परमपिता ने मानव को प्रदान किया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना है। महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में लिखा है कि ''**जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है वह परमात्मा है, उस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं।**''[२] सत्यार्थ प्रकाश में महर्षि ने वेदों के संबंध में एक स्थल पर और लिखा है कि ''सृष्टि के प्रारंभ में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य एवं अङ्गिरा इन चार ऋषियों की आत्मा में एक-एक वेद को प्रकाशित किया। इस प्रकार से परमात्मा ने चार वेद मानव जीवन को व्यवस्थित स्वरूप हेतु प्रदान किए थे। वे चार वेद हैं- (क) ऋग्वेद- इसमें सभी पदार्थों के गुणों का वर्णन किया गया है जिससे उनमें स्नेह प्रवृत्त होकर ज्ञान प्राप्त कर सकें, क्योंकि ज्ञान के अभाव में संसार और प्रवृत्ति का श्री गणेश नहीं हो सकता और इनके बिना मानव जीवन व्यर्थ ही हो जाता है। (ख) यजुर्वेद- इसमें कर्मकांड का विधान उपलब्ध है। कर्मकांड की प्रवृत्ति ज्ञान प्राप्त करके ही होती है। ऋग्वेद को ज्ञानकांड के लिए, यजुर्वेद को कर्मकांड के लिए तथा ज्ञान और क्रिया इन दोनों की उन्नति हेतु गानकांड अर्थात् सामवेद आवश्यक है और अवशेष अन्य रक्षाओं के लिए अथर्ववेद की प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ संख्या बाँधी है।

महर्षि दयानंद ऋग्वेद भाष्य की रचना करते हुए सर्वप्रथम कहते हैं कि ''**वेदानां तेनैवोक्तत्वात् पितृवत्कृपायमाण ईश्वरः सर्वविद्या प्राप्तये सर्वजीवहितार्थं वेदोपदेशमं चकार।**''[३] अर्थात् परमात्मा पिता जैसा कृपालु सभी जीवों का हित चिंतक और सभी विद्याओं की

* संस्कृत विभाग, वी.एस.एस.डी. कॉलेज, कानपुर, उ.प्र., संयोजक संस्कृत, सी.एस.जे.एम.यू., कानपुर।

प्राप्त हेतु प्रत्येक कल्प के प्रारंभ में वेद का उपदेश करता है। इस प्रकार दयानंद वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। वे कहते हैं कि वेद परमात्मा की रचना है जो समस्त सांसारिक समस्याओं के निराकरण के उपाय है। ब्रह्माण्ड की सृष्टि हेतु तथा प्राणि जीवन के उद्‌गम के लिए ऊष्मा की आवश्यकता होती है ऐसी ऊष्मा का स्थान अग्नि है और हर प्राणी की काया का आधार जल भी अग्नि में आविर्भूत है। यही अग्नि चेतन, व्यापक और सम्यक् संगति को प्राप्त होकर मनुष्य जीवन के सुखों का आधार बनती है। ज्ञान का आदि स्रोत वेद अग्नि से ही प्रारंभ हुआ है।

महर्षि दयानंद सरस्वती ने वेदभाष्य का प्रारंभ स्कंद से किया है जो वेदभाष्य की परंपरा को पूर्ण रूपेण अस्वीकार करता है जबकि महर्षि ने वेद से लेकर जैमिनि तक के ऋषियों की परंपरा को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। वेदभाष्य की परंपरा को नकारते हुए महर्षि ने अपने ग्रंथ ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः में कहा है कि ''**पूर्वाचार्य्यैः कृतं प्रकाश्यतेतद्यथा-यानि पूर्वैर्दैवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्ययाज्ञवल्क्य-वात्स्यायन-जैमिन्यन्तैः ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्,तथा यानि पाणिनि-पतंजलि-यास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादीभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट् शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थप्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिद् प्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।**''[४] अर्थात् जैसा पूर्व के मनीषियों ब्रह्मा से लेकर याज्ञवल्क्य-वात्स्यायन, जैमिनि पर्यंत ऋषियों ने ऐतरेय-शतपथ आदि के भाष्य किए हैं तथा पाणिनि-पतंजलि-यास्क इत्यादि महर्षियों ने वेदों के व्याख्यान के रूप में वेदों को छः भागों में विभक्त किया। इसी प्रकार से जैमिनि आदि महर्षियों ने वेदों को षट् उपशास्त्रों की रचना की और उसी प्रकार वेदों की शाखाओं की रचना की है। इनके संग्रह मात्र से सत्य अर्थ को प्रकाशित किया जा रहा है। यह वेदभाष्य प्रमाण रहित नवीन या स्वेच्छा से नहीं बनाया जा रहा है महर्षि के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि दयानंद सरस्वती ने वेदभाष्य पर अपनी इच्छा का प्रयोग नहीं किया है, अपितु उन्होंने संपूर्ण आर्ष परंपरा को स्वीकार करते हुए वेद भाष्य किया है। जिस प्रकार से अन्य भाष्यकारों ने प्रमाण रूप में यास्क, पाणिनि एवं पतंजलि आदि महर्षियों को माना है ठीक उसी प्रकार महर्षि दयानंद सरस्वती ने भी इन्हीं को प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। अंतर मात्र इतना है कि महर्षि दयानंद सरस्वती और अन्य भाष्यकारों के वेदभाष्य में अर्थभेद है और अर्थ की दिशा भी मेल नहीं खाती है।

वेद की भाषा जनमानस की समझ से परे होने के कारण आवश्यकता अनुसार पदच्छेद, शब्द परिवर्तन या विनियोग के माध्यम से अर्थ ज्ञान किया जाता था। इसी परंपरा में वेद की अनेक शाखाओं की रचना हुई। कुछ समयान्तराल में वेद के अर्थ के अवबोध के लिए दृश्य-श्रव्य काव्य के रूप में यज्ञ की अनेकानेक क्रियाओं के साथ मंत्रों का विनियोग करके वेद के अर्थ को स्पष्ट किया गया। इस परंपरा में ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई। महर्षि दयानंद सरस्वती ने

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदसंज्ञाविचारविषयः में इसका उल्लेख किया है- ''**ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति।**''[५] अर्थात् ब्रह्म का नाम वेद है और वेद का व्याख्यान ब्राह्मण है- ''**ब्रह्म नाम वेदः तद् व्याख्यान ब्राह्मणम्।**''

वेद के महत्त्वपूर्ण अर्थ को सिद्ध करने के लिए आरण्यक और उपनिषदों की रचना की गई, तत्पश्चात् वैदिक सिद्धांतों को तर्कपूर्वक सिद्ध करने के लिए सूत्र ग्रंथों उपांगभूत दर्शनशास्त्र की रचना हुई। वेद के अर्थ अवबोधन हितार्थ षट् वेदाङ्ग - शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष तथा निरुक्त ग्रंथों की रचना की गई। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब वेद विद्यमान थे तो वैदिक वाङ्मय में कई रचना की क्यों आवश्यकता पड़ी। कारण स्पष्ट है कि जनमानस को वेद के अर्थ का ज्ञान श्रवण मात्र से नहीं हो पा रहा था। सृष्टि के प्रारंभ में तो श्रवण मात्र से वेद के अर्थ का ज्ञान हो जाता था इसलिए वेदों को श्रुति की संज्ञा से भी जाना जाता था- ''**श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतवेदो मंत्राश्च श्रुतयः।**''[६] इसके उपरांत उपदेश के माध्यम से वेद अर्थ का ज्ञान ना हो पाने के कारण वेदाङ्ग, उपाङ्ग, शाखा प्रतिशाख्य तथा उपवेद आदि की रचना की गई। ऐसा उल्लेख महर्षि यास्क ने निरुक्त में किया है- ''**उपदेशायग्लायन्तो अवरे इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च।**''[७]

वर्तमान काल में वेदांत का ज्ञान इन ग्रंथो के माध्यम से भी नहीं हो पा रहा था इसलिए मंत्र के एक-एक शब्द के व्याख्यान की आवश्यकता अनुभव हुई और तब वेदभाष्य की परंपरा प्रारंभ हुई। वेदभाष्य भारतीय मनीषियों-स्कंद स्वामी, वेंकटमाधव, सायण और महीधर आदि ने शास्त्रीय प्रमाणों के साथ लौकिक संस्कृत में वेदों का भाष्य किया। इन मनीषियों में सायण सर्वातिशायी हैं जिनका चारों वेदों में भाष्य उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद के प्रथम भाष्यकार स्कंद स्वामी ने ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में अग्नि का व्याख्यान करते हुए कहते हैं- ''**(अग्निम्) अहं (ईळे) स्तौमि। कीदृशम् (पुरोहितं) शांतिकपौष्टिकैः कर्मभिर्यो राजानमापभ्दयस्त्रायतेसपुरोहित इत्युच्यते, तत्स्थानीयम्।**''[८]

अर्थात् शांतिक और पौष्टिक कार्यों के द्वारा जो राजाओं की आपत्तियों से रक्षा करता है, इसलिए यह अग्नि पुरोहित है। इस कथन से स्कंद स्वामी की दृष्टि में यज्ञ में प्रयोग होने वाला, जिस पर यज्ञ कर्मकांड आधारित है वह अग्नि है। आचार्य सायण जो मध्ययुगीन ऋग्वेद के भाष्यकार हैं वे अग्नि का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं- **(अग्निम्) अग्निनामकं देवम (ईळे) स्तौमि। 'ईड स्तुतौ' इति धातुः। कीदृशमग्निम्। (यज्ञस्य) (पुरोहितम्) यथा राज्ञःपुरोहितस्तदभीष्टं संपादयति तदाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति। यद्वा। यज्ञस्य संबन्धिनि पूर्वभागे आवहनीयरूपेणावस्थितम्।**''[९]

अर्थात् जिस प्रकार से राजा का पुरोहित राजा का अभीष्ट संपादित करता है ठीक उसी प्रकार से अग्नि भी यज्ञ रूप होम को संपादित करता है। अथवा यज्ञ का आधारभूत अग्नि आवाहनीय रूप में पूर्व भाग में स्थित होता है। इससे स्पष्ट परलक्षित होता है कि आचार्य सायण की दृष्टि में अग्नि

यज्ञ का मंत्र निर्वाहक और प्रकृति का एक तत्त्व है। इस प्रकार से चाहे स्वामी स्कंद हों और चाहे आचार्य सायण हों। यह दोनों की दृष्टि में इंद्र, वायु, पवन आदि देवों की भाँति अग्नि भी मात्र एक देव है। किंतु महर्षि दयानंद सरस्वती इस मंत्र के व्याख्यान में अग्नि के दो रूपों का प्रतिपादन करते हैं– **''(अग्निम्) परमेश्वरं भौतिकं वा।**[१०] अग्नि का प्रथम रूप परमेश्वर का और द्वितीय रूप भौतिक का है। इसी प्रकरण में महर्षि यास्क के द्वारा अग्नि के निर्वचन का व्याख्यान करते हुए महर्षि दयानंद कहते हैं कि **''अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव-प्रतिपादनान्तरस्यात्र ग्रहणम्। दग्धादिति विशेषणाभ्दौतिकस्यापि च।''**[११] अर्थात् अग्रणी का अर्थ है सर्वोत्तम, संपूर्ण यज्ञों में प्रथम ईश्वर का प्रतिपादन होने से ईश्वर ही अग्नि शब्द का अविधेय है, तथा महर्षि यास्क 'दग्धात्' पद से अग्निपद का निर्वचन करते हैं जिससे महर्षि दयानंद भौतिक अग्नि का ग्रहण करते हैं।

यहाँ इस तथ्य को स्पष्ट कर देना भी समीचीन प्रतीत होता है कि वेदों के अनेक भाष्य होते हुए भी महर्षि दयानंद की दृष्टि वेदभाष्य पर ही क्यों गई? इसका स्पष्ट कारण है कि आचार्य सायण, महीधर, उव्वट आदि भाष्यकारों के वेदभाष्य– वेद, धर्म, ऋषि, निरुक्त आदि की परंपरा से हटकर थे। रावण, मैकडोलन, तिलक, मैक्समूलर, विंटरनिट्ज आदि विद्वान् वेदों के वास्तविक स्वरूप एवं सत्य अर्थ तक नहीं पहुँच पाए थे। उनकी ऋषि बुद्धि नहीं थी। उनके भाष्य में अश्लीलतापरक और अनर्थपरक तथा वैज्ञानिकता, निरुक्त, धर्म आदि का अभाव स्पष्ट परलक्षित होता है जो मानवों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है जिससे उनका अहित होता है।

महर्षि दयानंद सरस्वती ने अपने वेदभाष्य के संबंध में अनेक स्थानों पर स्पष्ट रूप से कहा है कि **''यह जो मेरा भाष्य- वेद, वेदाङ्ग ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रंथों के अनुसार होता है। क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, भाष्य उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है। यही भाष्य की अपूर्वता है।''**[१२] और कहा कि **''जब मेरा भाष्य पूर्ण हो जाएगा तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जाएगा कि मेरा भाष्य वेदानुकूल है।''**[१३] महर्षि एक स्थल पर फिर कहते है कि **''इस वेदभाष्य में वेदों का जो सत्य अर्थ है वह मनुष्यों की आत्माओं में यथावत् प्रकाशित होगा तथा वेदों के ऊपर लोगों ने जो मिथ्या व्याख्यान दिए गये हैं उनकी निवृत्ति भी इस भाष्य से अवश्य रूप से होगी।''**[१४]

महर्षि दयानंद सरस्वती ने **''निरुक्त आदि में उल्लेख की गई आधिदैवत, अध्यात्म आदि प्रक्रियाओं को उन्हीं नामों से इसलिए स्वीकार नहीं किया; क्योंकि उनके अनुसार नाम के साथ कई ऐसी भावनाएं भी जुड़ी थीं। जो महर्षि को उचित नहीं लग रहीं थीं। इसके साथ ही साथ उन नामों से प्रचलित प्रक्रियाओं का स्वरूप भी अस्पष्ट एवं भ्रामक था। महर्षि दयानंद सरस्वती के वेदभाष्य के अंतर्गत अधिकांश वैदिक देवताओं के भिन्न-भिन्न प्रक्रियानुसारी अर्थ आ जाते हैं उनकी अपूर्व मेधा से अन्य कोई भाष्यकार उनसे तुलना नहीं कर सकता है।''**[१५]

वेद के अर्थ को सम्यक् रूप से समझने के लिए महर्षि दयानंद ने लिखा है कि जो कोई भूमिका के बिना मात्र वेद ही लेना चाहे सो नहीं मिल सकते। अतः वेद-भाष्य पढ़ने से पूर्व महर्षि दयानंद सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ को पढ़ना आवश्यक है। यह रचना उनकी अनुपम कृति है; क्योंकि वेद विषयक पौराणिक मान्यताएं जिनसे पाश्चात्य विद्वान् ही नहीं वरन् भारतीय विद्वान् भी भ्रमित हुए हैं, जिससे वेदों की महत्ता ही कम नहीं हुई अपितु वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है, ईश्वरोक्त है इसमें भी संदेह हुआ है। इसके साथ ही महर्षि के वेदभाष्य में सायण, महीधर, उव्वट, रावण आदि की अनर्गलता यथा- मंत्रों के प्रतिपाद्य विषय, मुख्य देवता के विषय में मौन धारण कर लेना, वेदों को अपौरुषेय मानकर भी उसमें अनित्य इतिहास मानना, इंद्र, वायु, वरुण आदि देवताओं को ईश्वर तुल्य समझना, स्वर्ग-नरक आदि लोकों की कल्पना तथा ईश्वर के साकारवाद को मानते हुए भी जड़ पूजा को मानना आदि अनेक मिथ्या मान्यताएं महर्षि के वेदभाष्य में प्राप्त होती हैं जबकि महर्षि दयानंद ने अपने वेदभाष्य में ऋषियों की मंत्रार्थ शैली को अपनाया है जिसके फल स्वरूप मिथ्या मतों का खंडन अपने आप ही हो जाता है महर्षि दयानंद सरस्वती ने अपनी भाष्य शैली का स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है-

मंत्रार्थभूमिका ह्यत्र मंत्रस्तस्य पदानि च।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रामद् बोध्या विचक्षणैः।।[१६]

अर्थात् महर्षि दयानंद सरस्वती का वेदाभाष्य - प्रतिपाद्य विषय, मंत्र, पदच्छेद, पदार्थ अन्वय, भावार्थ और क्रम में है। सायण, महीधर आदि का वेदभाष्य निरुक्त मूलक नहीं है और उसमें वह योग्यता भी नहीं है- **''न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसोवा।''**[१७] वे जो मलिन अन्तःकरण वाले हैं उन्हें वेदार्थ करने का अधिकार नहीं है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि निरुक्त आदि के सिद्धांतों को छोड़ दिया। निरुक्त सम्मत वैदिक पद आख्यातज होते हैं जबकि सायण के वेदभाष्य में रूढ़ अर्थ भी किए हैं। वैदिककोष निघण्टु, ब्राह्मण आदि को आधार न बनाकर लौकिक अर्वाचीन, अमरकोष आदि को आधार बनाया है। ऋषियों को ऐतिहासिक नहीं माना है अपितु उन्हें मात्र मंत्र का अर्थ करने में सहायता करने वाला माना है तथा वेदों को अपौरुषेय तो माना है, किंतु वसिष्ठ आदि को व्यक्ति विशेष मानकर ही मंत्रों के अर्थ करना। इस प्रकार की अनेक विरुद्ध मान्यतायें हैं।

महर्षि दयानंद सरस्वती ने सायण, महीधर आदि की मूलभूत कमियों को दृष्टिगत करते हुए वेदार्थ को वेद, निरुक्त तथा ऋषि मूलक बनाकर वेदार्थ का स्वस्थ स्वरूप स्थापित किया है। महर्षि दयानंद सरस्वती ने वेद मंत्रों के भावार्थ करने के पश्चात् उनका हिंदी पदार्थ भी किया है। हिंदी पदार्थ में पदपाठ के क्रम का आश्रय ग्रहण करके अन्वय में दिए गए क्रम का अनुसरण करते हुए मंत्र को सुबोध और ग्राह्य बनाया है। महर्षि का हिंदी भावार्थ संस्कृत पदार्थ की छाया ही है। दोनों में से किसी एक को देखकर दूसरे के विचलन को पहचाना जा सकता है इस तरह से महर्षि ने आधुनिक युग की आवश्यकताओं, चुनौतियों को दृष्टिगत रखते हुए वेदभाष्य को एक सर्वग्राही

और व्यापक आधार दिया है ऐसा वेदभाष्य अन्य किसी भाष्यकार ने नहीं किया है। प्राचीन काल की विनियोग और देवता संबंधी मान्यताओं को नवीन युग के अनुसार परिभाषित किया है। महर्षि अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण पाश्चात्य तथा भारतीय अन्य भाष्यकारों से एक पृथक् स्थान रखते हैं और उच्च श्रेणी में स्थापित हैं। यही उनके वेदभाष्य का वैशिष्ट्य है।

संदर्भ-सूची

१. महर्षि मनु, मनुस्मृति, २.१२

२. महर्षि दयानंद सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास- ७

३. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेदभाष्य, १.१.१

४. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः, पृष्ठ- ३९६, सिद्ध योगपीठ ट्रस्ट, जी.टी. रोड, पिपली, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, २००८

५. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः, पृष्ठ- १११, सिद्ध योगपीठ ट्रस्ट, जी.टी. रोड, पिपली, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, २००८

६. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः, पृष्ठ- १०४, सिद्ध योगपीठ ट्रस्ट, जी.टी. रोड, पिपली, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, २००८

७. महर्षि यास्क, निरुक्त, १.६.१९

८. स्कंद स्वामी, ऋग्वेद भाष्य, १.१.१

९. आचार्य सायण, ऋग्वेद भाष्य, १.१.१

१०. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेद भाष्य, १.१.१

११. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेद भाष्य, १.१.१

१२. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः, सिद्ध योगपीठ ट्रस्ट, जी.टी. रोड, पिपली, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, २००८

१३. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः, सिद्ध योगपीठ ट्रस्ट, जी.टी. रोड, पिपली, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, २००८

१४. पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ. ३६

१५. डॉ. रामनाथ वेदालंकार, वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएं, पृष्ठ- १८

१६. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः, पृष्ठ- ४५६, सिद्ध योगपीठ ट्रस्ट, जी.टी. रोड, पिपली, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, २००८

१७. महर्षि यास्क, निरुक्त, १३.१२

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

गद्य-सम्राट पं. अंबिकादत्त व्यास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. मनीलता पचानौत *

शोधसार- गद्य-सम्राट पं. अंबिकादत्त व्यास ने अपने जीवन में विभिन्न प्रकार की कृतियाँ लिखीं। इन्होंने भक्ति साहित्य, धार्मिक साहित्य, उपन्यास साहित्य, रूपक साहित्य, अलंकारशास्त्र साहित्य, संस्कृत भाषा एवं शिक्षण साहित्य, सरसता प्रधान साहित्य, दर्शन साहित्य, अंग्रेजी शासन प्रशंसा परक साहित्य, हास्य व्यंग्य व कौतुक संबंधित साहित्य के अलावा इतिहास, रेखागणित एवं चिकित्सा ज्ञान से संबंद्धित रचनाएँ लिखी। इन्हें हिन्दी, संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी भाषाओं का ज्ञान था, जो इनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देता है।

बीज शब्द- अंबिकादत्त व्यास, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, गद्य सम्राट, भारत भूषण, भारत रत्न, भारत भास्कर, बिहार भूषण।

देवों से समुद्भूत एवं महर्षियों से अन्वाख्यात संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषा है। यह भाषा जितनी प्राचीन है, इसका साहित्य उतना ही विशाल एवं समृद्ध है। साहित्य सृजन की जो अविरल धारा वेदों से प्रारम्भ हुई, वह विभिन्न स्रोतों से पल्लवित होकर आज तक प्रवाहित है। विदेशी आक्रान्ताओं, विदेशी शासकों एवं अपने ही देशवासियों की उपेक्षा तथा अवहेलना सहने के पश्चात् भी आधुनिक साहित्यकार संस्कृत को अपनी रचनाओं से अलंकृत एवं पल्लवित कर रहे हैं। इन रचनाकारों ने संस्कृत साहित्य की गद्य, पद्य, चम्पू आदि विभिन्न विधाओं में युगीन प्रवृत्तियों का समावेश करके संस्कृत को जीवंत किया है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पंडित अंबिकादत्त व्यास ऐसे ही सरस्वती के वरद पुत्रों में से अन्यतम थे, जिन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया।

प्रायः संस्कृत रचनाकारों ने अपने व्यक्तित्व व कृतित्व का परिचय अपने ग्रंथों में आत्माश्लाघा मानकर नहीं दिया, जिससे उनके जन्म स्थान, काल और कृतियों का निर्धारण परवर्ती साहित्यकारों के लिए समस्या बन कर रह गई, परन्तु व्यासजी इस दृष्टि से अपवाद हैं उन्होंने स्वयं 'निज-वृत्तांत' में अपने जीवन की घटनाओं का विस्तृत परिचय दिया है तथा १९०१ में सरस्वती में इनका जीवन परिचय भी प्रकाशित हुआ था। '**सामवतम्**' नाटक के अनुसार शौर्यभू राजस्थान उनकी जन्मस्थली विद्या केंद्र वाराणसी उनकी विद्यास्थली एवं बिहार की भूमि उनकी कर्मस्थली रही है।

* सहायक आचार्य, संस्कृत, राजकीय कन्या महाविद्यालय, बूंदी, राजस्थान।

जातो जयपुरनगरे वाराणस्यां तथा कलितविद्यः।
सत्वरकवितासविता गौडः कोऽप्याम्बिकादत्तः।।[१]

राजस्थान में भी द्वितीय काशी के रूप में विख्यात जयपुर नगरी में चैत्र मास में नवरात्रि की शुक्ल पक्ष की दुर्गाष्टमी को सन् १८५८ (संवत् १९१५) में अपनी ननिहाल सिलावटों के मोहल्ले में इनका जन्म हुआ। पिता पं. दुर्गादत्त व्यास ने दुर्गाष्टमी को जन्म लेने के कारण इनका नाम अंबिकादत्त रखा, किन्तु पितृव्य देवीदत्त ने रामनवमी विद्ध होने के कारण इन्हें रामचन्द्र नाम दिया, जो अधिक प्रचलित न हो सका।[२] इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा और संस्कृत भाषा का ज्ञान घर पर ही संपन्न हुआ। पिता कुशल कथावाचक थे। अतः भाषण देने का ज्ञान इन्हें विरासत में प्राप्त हुआ। बाल्यावस्था में ही इनमें काव्य स्फुरण हो गया, जो पिता के सानिध्य में श्लोक रचना के अभ्यासवश परिपुष्ट हो गया। अतः भारतेन्दु मंडली ने इन्हें 'सुकवि' पद से विभूषित किया। ये एक घटिका अर्थात् २४ मिनट में १०० श्लोकों की रचना कर लेते थे। अतः इन्हें 'घटिकाशतक' या स्मृति प्रभुद्धतावश 'शतावधानी' भी कहा जाने लगा।[३] इन्होंने ज्योतिष, संगीत, वैद्यक, गणित, रेखागणित, इतिहास, सामवेद, पुराण, सांख्य, तर्क, दर्शन, व्याकरण, रत्नविज्ञान आदि का विस्तृत अध्ययन किया था। इन्हें हिन्दी, संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी भाषाओं का ज्ञान था, जो इनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देता है।

पंडित जी के जीवन में विघ्न-बाधाओं की कमी नहीं थी। सबसे पहले सन् १८७४ में इनकी माता और उसके ६ वर्ष पश्चात् पिता का देहांत हो गया। अभी व्यासजी के हृदय में शोक संतप्तता का अवसान हुआ भी नहीं था कि इसी दुःखद बेला में इनके अनुज एवं आदरणीय भाभीजी का भी असामयिक निधन हो गया। इसके कुछ समय पश्चात् इनके अभिन्न मित्र, सहायक, पथ-प्रदर्शक और शुभचिंतक भारतेंदु हरिश्चंद्र भी ब्रह्मलीन हो गए। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में रहते हुए भी इनका अध्ययन, अध्यापन और लेखन अनवरत चलता रहा। सन् १८८० में इन्होंने साहित्याचार्य की उपाधि गवर्नमेंट कॉलेज से प्राप्त की। कुछ समय पश्चात् मधुबनी (दरभंगा) संस्कृत पाठशाला में अध्यापन का कार्य आरम्भ किया, तत्पश्चात् १८८६ में मुजफ्फरपुर संस्कृत विद्यालय में, १८८७ में भागलपुर जिला स्कूल में, १८९६ में छपरा जिला स्कूल में अध्यापन कार्य किया। जीवन के अंतिम वर्ष १८९९ में वे पटना कॉलेज में प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए, परन्तु उदर रोग से ग्रस्त होने के कारण मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी, १९ नवंबर १९०० को इनकी जीवन लीला समाप्त हो गई।[४] कहने को तो अंबिकादत्त व्यास हमारे बीच नहीं रहे, परन्तु आज भी वे हमारे बीच अनेक रूपों में विद्यमान हैं यथा उपन्यासकार, अनुवादक, राष्ट्रभक्त, गद्य काव्य विद्या की नवीन शैली के सूत्रधार, संपादक, दर्शन वेत्ता, सुरवाणी समर्थक, रसिकहृदय, संस्कृत-संस्कृति के उन्नायक एवं राजभक्त आदि। इन्हें गद्य सम्राट, भारत भूषण, भारत रत्न, भारत भास्कर, बिहार भूषण, धर्माचार्य, एवं महामहोपदेशक जैसे रूपों में भी जाना जाता है। इन्होंने संस्कृत-संजीवनी नामक संस्था की स्थापना कर देववाणी के प्रचार प्रसार के लिए अलख जगाई।

इनकी रचनाओं की संख्या के संबंध में 'गुप्ताशुद्धिप्रदर्शनम्' के आरंभ में लिखा है कि यदि इनके द्वारा रचित ग्रंथ संख्या की विशालता को उनके जीवन के वर्षों में फैलाया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने अपने जीवन में प्रतिवर्ष माँ भारती के चरणो में दो-दो ग्रन्थ सुमन समर्पित करते हुए उनकी समाराधना की थी।[५]

अभिनव बाण के रूप में विख्यात अंबिकादत्त व्यास अपनी मौलिक सृजन निपुणता के कारण संस्कृत एवं हिन्दी जगत् के प्रकाशमान नक्षत्र रत्न है। इनकी रचनाओं का विश्लेषण करने पर इनकी कुल ९१ रचनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें से २७ कृतियाँ संस्कृत भाषा में लिखी गई, परन्तु इस समय १४ ही उपलब्ध होती हैं। इन्होंने हिन्दी भाषा में ६४ रचनाएँ लिखी उनमें से ३८ ही उपलब्ध होती हैं।[६] इनके साहित्य की समस्त रचनाओं को निम्न धाराओं में विभाजित किया जा सकता है।

१. भक्ति साहित्य- पंडित अंबिकादत्त व्यास एक उच्च कोटि के भक्त थे। ये ईश्वर पूजा में पूर्ण विश्वास रखते थे। भक्ति काव्य के क्षेत्र में इन्होंने हिन्दी में शिव-विवाह, घनश्याम विनोद, कंस वध तथा सुकवि सतसई नामक भक्ति साहित्य का प्रणयन किया। इसी प्रकार देववाणी संस्कृत में इन्होंने गणेशशतकम्, रत्न-पुराण एवं सहस्त्रनाम रामायण नामक स्त्रोत साहित्य की रचना की।[७] इनकी अधिकांश रचनाएँ कालकवलित हो गयीं। कुछ रचनाएँ अपूर्ण एवं अनुपलब्ध होने के कारण वर्तमान में दुर्लभ है। पंडित व्यास द्वारा श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं पर आधारित सुकवि सतसई एवं तुलसीकृत विनयपत्रिका पर आधारित सहस्त्रनाम रामायणम् स्त्रोतकाव्य विशेष उल्लेखनीय एवं परिगणनीय कहा जा सकता है।

२. धार्मिक साहित्य- पंडित व्यास ब्राह्मणवाद एवं अवतारवाद के प्रबल समर्थक थे। इन्होंने आर्य समाज, ब्रह्म समाज तथा तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक सुधारवादी आंदोलनों का सर्वथा विरोध करते हुए खंडन-मंडनात्मक साहित्य का सूत्रपात किया। हिन्दी भाषा में अबोधनिवारण, पंडितप्रपंच, मानव-प्रशंसा, दोषग्राही और गुणग्राही, मूर्तिपूजा नामक कृति में प्रश्नोत्तर-शैली में मूर्ति पूजा के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है।[८] पंडित व्यास ने २६१ अनुष्टुप् छन्द में संस्कृत भाषा में अवतार मीमांसा नामक ग्रन्थ की रचना कर अवतरण को शंका एवं समाधान की शैली में साक्ष्यों एवं प्रमाणों से गुम्फित किया है।

३. उपन्यास साहित्य- अर्वाचीन संस्कृत गद्य साहित्य के विविध रूपों में उपन्यास विधा का अपना महत्त्व है। इन्होंने शिवराजविजय, आश्चर्य वृतांत एवं स्वर्गसभा जैसे उपन्यासों का सृजन किया है।[९] भारतीय संस्कृति की विलुप्त होती विरासत को संजोए रखने का आधार बनाकर आश्चर्य वृतांत नामक उपन्यास में जयपुर वास्तव्य सज्जन के गया तीर्थ स्थल के पास में एक गहरे गड्ढे में गिरने एवं वहाँ एक अंग्रेज भूगर्भ विद्वान् के साथ व्यास आश्रम एवं शस्त्रागार आदि के अद्भुत् दर्शन कर आश्चर्य प्रकट करने के कारण इस उपन्यास का नामकरण आश्चर्य वृतांत किया गया।

इसी प्रकार स्वर्ग–सभा नामक उपन्यास में व्यंग्यात्मक शैली में स्वर्ग में सभी देवों के विभिन्न संकटों को लेकर ब्रह्माजी की अध्यक्षता में एक बैठक का आयोजन कर मर्मान्तक मनोभावों का ध्वन्याङ्कन किया गया है।

कादम्बरी की परंपरा में विरचित अंबिकादत्त व्यास का शिवराजविजय नामक गद्यकाव्य सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास है। संस्कृत में निबद्ध, वीर रस से ओत–प्रोत इस उपन्यास में धीरोद्धात नायक छत्रपति शिवाजी की विजय गाथा का बड़ा ही ओजस्वितापूर्ण वर्णन किया गया है। इसमें इतिहास और कल्पना, आदर्श और यथार्थ तथा अनुभव एवं कल्पना का सुमधुर गुम्फन हुआ है।

४. रूपक साहित्य– संस्कृत की अभिनव शैली के जनक पंडित व्यास न केवल ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में विख्यात रहे अपितु एक श्रेष्ठ नाटककार के रूप में भी जाने जाते हैं। पंडित व्यास ने संस्कृत नाटक साहित्य में सामवतम्, धर्माधर्मकलकलम् एवं मित्रालाप नाट्य साहित्य का सृजन किया। मन की उमंग नाटक संग्रह की भूमिका से जानकारी मिलती है कि इनके नाटकों का अभिनय मुजफ्फरनगर की एक धर्म सभा में किया गया था।[१०]

हिन्दी रूपकों में गोसंकट, भारत सौभाग्य, ललिता नाटिका, कलयुग और घी तथा मन की उमंग विशेष उल्लेखनीय है। मन की उमंग में व्यासजी द्वारा लिखित सात छोटे–छोटे एकांकी रूपक संकलित हैं। प्रथम पाँच रूपक हिन्दी भाषा में और दो संस्कृत भाषा में हैं। हिन्दी एकांकियों में भारतधर्म, धर्मपर्व, संस्कृत संताप, देवपुरुष दृश्य एवं जटिल वणिक् हैं। इनमें भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, संस्कृत भाषा की अवनति, ब्राह्मण जाति की गिरती प्रतिष्ठा, मुस्लिम शासन के प्रति खिन्नता विषय क्रमशः वर्णित किये गये हैं। मन की उमंग में संकलित संस्कृत के दो रूपक धर्माधर्मकलकलम् एवं मित्रालाप हैं।[११]

सामवतम् नाटक संस्कृत नाट्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह स्कन्द पुराण के एक पौराणिक आख्यान को आधार बनाकर लिखा गया है। इसमें एक ऋषिपुत्र का नारी में परिवर्तित होकर उसके ही पूर्व मित्र सुमेधा से विवाह का वृतांत वर्णित हुआ है।

५. अलंकारशास्त्र साहित्य– पंडित अंबिकादत्त व्यास काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के ज्ञाता थे। इन्होंने संस्कृत भाषा में अनुष्टुप् लक्षणोद्धार, छन्द–प्रबंध तथा गद्यकाव्य मीमांसा–कारिका नामक पुस्तकों का सृजन किया।[१२] किन्तु दुर्भाग्यवश ये कृतियाँ आज हमारे मध्य नहीं हैं। इसी प्रकार हिन्दी भाषा में रचित गद्य काव्य मीमांसा भाषा नामक रचना में गद्य के भेदों का निरूपण, गद्य काव्य का स्वरूप तथा उसके भेदोपभेदों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

६. संस्कृत भाषा एवं शिक्षण साहित्य– पंडित व्यास का अधिकांश समय बिहार के संस्कृत विद्यालयों में प्रधानाचार्य पद पर रहते हुए अपनी उल्लेखनीय सेवाएं देने में व्यतीत हुआ। वहीं पर इन्होंने सरल संस्कृत एवं शिक्षण के लिए उपयोगी पुस्तकें भी लिखीं यथा रत्नाष्टक,

संस्कृत अभ्यास पुस्तक, बाल व्याकरण, प्राकृत प्रवेशिका, कथा कुसुमम्, संस्कृत संजीवन आदि। इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र के पूर्ण ज्ञान का परिचय करवाने हेतु गुप्ताशुद्धिप्रदर्शन नामक कृति लिखी।[१३] संस्कृत में परिमार्जन एवं शुद्धता के लिए यह कृति अत्यन्त उपादेय एवं पठनीय है।

७. सरसता प्रधान साहित्य- पंडित व्यास सहृदय रसिक कवि थे। इन्होंने अनेक सरसता प्रधान कृतियों की रचना की। हिन्दी भाषा में लिखी आनंद मंजरी, रसीली कजरी, धर्म की धूम, पावस-पचासा, हो हो होरी, झूलन-झमंक एवं बिहारी बिहार गीति प्रधान व माधुर्य गुण समन्वित रचनाएँ हैं। इसी प्रकार धर्म की धूम धर्म प्रचारार्थ लिखा गया एक कविता संग्रह है तथा पावस-पचासा ब्रज भाषा में लिखा गया सर्वोत्तम वर्षा ऋतु परक कविता संग्रह है।[१४]

८. दर्शन साहित्य- व्यासजी भारतीय दर्शन के सम्यक् ज्ञाता थे। कुछ प्रसिद्ध दर्शन ग्रन्थों के अनुवाद के साथ-साथ इन्होंने अपनी स्वतंत्र रचनाएँ भी लिखीं। हिन्दी भाषा में ईश्वरेच्छा और संस्कृत भाषा में सांख्य सागर सुधा, पातंजल प्रतिबिम्ब एवं दुःखद्रुमकुठार ग्रंथ इनके दार्शनिक चिंतन की गहनता को अभिव्यक्त करते हैं।[१५]

ईश्वरेच्छा नामक रचना कवि ने मिथिला नरेश लक्ष्मीश्वर सिंह की मृत्यु के दारुण समाचार से विह्वल होकर की। सांख्य सागर सुधा पुस्तक बालकों को सांख्य दर्शन का प्रारंभिक ज्ञान करवाने के उद्देश्य से की गई। पातंजल प्रतिबिंब पुस्तक में योग दर्शन के सूत्रों की परिभाषा और सिद्धांतों को कारिका रूप में निबंध करके प्रस्तुत किया गया है। दुःखद्रुमकुठार पुस्तक की रचना व्यासजी ने उस समय की जब एक तरफ युवा अनुज की मृत्यु का असह्य शोक तथा दूसरी और परम हितैषी भारतेंदु हरिश्चंद्र के निधन का वज्राघात लगा। आध्यात्मिक दृष्टि से लिखी इस वैराग्य परक पुस्तक की रचना से व्यास जी ने भावात्मक एवं विचारात्मक निबंध की नई विद्या का संस्कृत साहित्य में अभिनव प्रयोग किया।

९. अंग्रेजी शासन प्रशंसा परक साहित्य- पंडित अंबिकादत्त व्यास मुगल शासकों की धर्म के प्रति बर्बरतापूर्ण नीति के विरोधी थे। जबकि अंग्रेजी हुकूमत के प्रति व्यासजी की अनुरक्ति व्यक्त हुई है। पुष्प वर्षा ब्रजभाषा में लिखा गया एक लघु काव्य है, जिसमें महारानी विक्टोरिया के संक्षिप्त जीवन वृतांत के साथ-साथ ब्रिटिश राज्य विस्तार का परिचय दिया गया है। इसकी रचना महारानी विक्टोरिया की जयंती के उपलक्ष्य में की गई थी।[१६] संभवतः व्यास जी को धार्मिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न करने की अंग्रेजी सरकार की प्रवृत्ति मुगल शासकों की नृशंसता से अपेक्षाकृत अच्छी प्रतीत हुई होगी।

१०. हास्य व्यंग व कौतुक संबंधित साहित्य- व्यासजी रूखे व्यक्तित्व वाले व्यक्ति नहीं थे। वे साहित्य लेखन के अतिरिक्त संगीत, शतरंज एवं ताश के कौतुकों के प्रेमी थे। उनकी अधिकांश कृतियों में वर्णन उबाऊ न होकर या तो स्वस्थ हास्य की सृष्टि करने में सक्षम होते हैं या चुटीले, पैने व्यंग्य से परिपूर्ण। संस्कृत में द्रव्य स्त्रोत एवं हिन्दी में पड़े-पड़े पत्थर अपूर्ण रचनाओं

के शीर्षक हास्य व्यंग्य से जुड़े हुये हैं।[१७] यद्यपि यह रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं है किन्तु कवि की हास्यप्रियता एवं व्यंग्य कथन की निपुणता को सूचित करती है। व्यासजी शतरंज के चतुर खिलाड़ी और ताश के पत्तों में भी रुचि रखते थे। चतुरंग–चातुरी पुस्तक हिन्दी भाषा में लिखी गई है। इसमें शतरंज के इतिहास से अवगत कराते हुए शतरंज फलक की बनावट, खेलने की विधियाँ, मात करने के तरीकों का वर्णन इनके शतरंज ज्ञान की निपुणता को सूचित करता है। ताशकौतुक पचीसी एवं महाताश–कौतुक पचासा ताश के विभिन्न जादुई करतबों से जुड़ी हिन्दी भाषा में लिखी रचनाएँ हैं। व्यास जी की बचपन से ही ऐन्द्रजालिक खेलों में रुचि रही होगी। अतः इनके रहस्य व चातुर्य को व्यास जी ने अच्छी तरह समझ लिया था।[१८]

११. बहु-आयामी साहित्य के धनी– बहु–आयामी व्यक्तित्व के धनी पंडित व्यास जी का बहु–आयामी पक्ष उनके समूचे साहित्य की समीक्षा से सिद्ध हो जाता है। देववाणी में विरचित कुण्डली दीपक एवं समस्यापूर्ति सर्वस्व नामक रचनाएँ[१९] अन्य लोगों की समस्या पूर्ति एवं कविता ज्ञान हेतु लिखे गए हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश ये दोनों ही रचनाएँ अनुपलब्ध हैं।

इतिहास, रेखागणित एवं चिकित्सा ज्ञान से संबंद्ध रचनाएँ इनके बहु–आयामी पांडित्य को रेखाङ्कित करती हैं। इन्होंने संस्कृत में इतिहास–संक्षेप एवं रेखा गणित तथा हिन्दी भाषा में क्षेत्र–कौशल, चिकित्सा चमत्कार, रेखागणित भाषा, स्वामी चरित्र, बिहारी चरित्र एवं विभक्ति विलास रचनाओं का सूत्रपात किया।[२०] व्यासजी न केवल कवि, समीक्षक एवं विज्ञान् वेत्ता थे, वरन् कुशल अनुवादक, संपादक एवं प्रकाशक भी थे। इन्होंने अभिज्ञानशाकुंतलम्, वेणीसंहार, तर्कसंग्रह एवं सांख्यकारिका जैसी चर्चित रचनाओं का सरल, सुगम एवं बोधगम्य भाषा में अनुवाद किया। कथा कुसुम कालिका तथा भाषा ऋजुपाठ भी इनका अनुवाद साहित्य है।[२१] इन्होंने साहित्य नवनीत रचना का संपादन तथा पीयूष प्रवाह का प्रकाशन भी किया।

उपर्युक्त विवेचन में उनके व्यक्तित्व व कृतित्व का परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार सूर्य को रोशनी दिखाने की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार अपनी कृतियों से महान् बने साहित्य गगन के भास्कर पंडित अंबिकादत्त एवं इनकी कृतियाँ किसी के परिचय की अपेक्षा नहीं रखती। ये कृतियाँ साहित्य जगत् में सदैव अमर रहेंगी। अंततः यह कहना समीचीन होगा कि प्राचीन समीक्षकों ने कवियों में जो स्थान कालिदास को प्रदान किया है, वही स्थान आधुनिक साहित्य प्रणेताओं ने पंडित अंबिकादत्त व्यास को दिया है।

पुरा कविनां गणना-प्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठित-कालिदासा।
तथाद्य साहित्य-सुसर्जकेषु साधिष्ठता व्यासमहोदयेन।।[२२]

सन्दर्भ सूची

१. सामवतम्, पंडित अंबिकादत्त व्यास, १.३२
२. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. १२

३. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. १३
४. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. १४
५. गुप्ताशुद्धिप्रदर्शनम् के आरम्भ में, पंडित अंबिकादत्त व्यास संक्षिप्त परिचय।
६. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. २४
७. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ४
८. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ५
९. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ६
१०. मन की उमंग नाटक संग्रह, पंडित अंबिकादत्त व्यास, भूमिका-भाग।
११. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. ३५-३६
१२. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ४०
१३. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ४१
१४. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ४१
१५. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. २६
१६. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. ३१
१७. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. २९
१८. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. २९
१९. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ४०
२०. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ४०
२१. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार, शंकर लाल शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, २००५, पृ. ४१
२२. स्वनाम धन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. २२

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

महाभारतकालीन समाज : एक अध्ययन

शशी शर्मा*

शोध सारांश– सृष्टि से पूर्व प्रलय की दशा में सारा जगत् माया–संज्ञक भावरूप अन्धकार से आच्छादित था। केवल वही सकल वेदान्त प्रसिद्ध निरुपाधिक ब्रह्मतत्त्व उस वायु–रहित दशा में मूल प्रकृति से अविभक्त होकर प्राण ले रहा था। यह कार्यरूप जगत् ईश्वर के पर्यालोचन रूपी तप के माहात्म्य से संकल्प रूप में उत्पन्न हुआ था– **'स एकाक्षतः, बहु स्याम् प्रजायेय इति।'** अर्थात् मैं अनेक हो जाऊँ तथा मैं प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। ईश्वर की यही सृष्टि लोक में जगत्, समाज अथवा संसार के नाम से प्रसिद्ध हुई। महाभारतकालीन समाज वर्ण तथा आश्रम जैसी व्यवस्थाओं पर निर्भर था जिनका मुख्य उद्देश्य सामाजिक सामञ्जस्य को स्थापित करना था। महाभारतकालीन समाज में अधिकांश वैदिक संस्कृति की झलक ही देखने को मिलती है। हालांकि कुछ सामाजिक कुरीतियाँ भी उस काल में दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु ऋषि–परम्परा के प्रभाव से अधिकांश समाज सनातन संस्कृति का ही अनुपालक था। महाभारतकाल में मनुष्य ब्रह्मचर्याश्रम में नियम एवं संयम रूपी व्रत का पालन करते हुए, विद्या–प्राप्ति के लक्ष्य को सावधान होकर पूर्ण करते थे। इसके उपरान्त गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके प्राप्त की गयी शिक्षा को धर्म, दान, पंच महायज्ञ, श्राद्ध, तर्पण, सोलह संस्कार इत्यादि अमूल्य संस्कृति को क्रियात्मक रूप प्रदान करते थे। इसके उपरान्त समाज के कुछ सुधीजन वैराग्य धारण कर साधु–सन्तों के रूप में वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करते थे और जीवन के अन्तिम काल में विषयासक्ति का परित्याग कर सन्यासाश्रम के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करते थे।

संकेत शब्द : समाज, वर्ण, आश्रम, परिवार, कर्तव्य आदि।

प्रस्तावना– सम् तथा आङ् उपसर्ग पूर्वक अज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर समाज शब्द निष्पन्न होता है। अज् धातु गति और क्षेपण के अर्थ में प्रयोग होती है। गति के भी ज्ञान, गमन और प्राप्ति भेद से तीन अर्थ होते हैं।[१] अर्थात् समाज शब्द का अर्थ हुआ धर्म, ज्ञान और क्रिया की सहमति के आधार पर एकत्रित होने वाला जन–समूह। अतः धर्मावलम्बी मनुष्यों के समूह को ही समाज कहते हैं। ईश्वर ने ऋषि–परम्परा के माध्यम से अमूल्य वेद–राशि समाज को प्रदान की। जिसमें सामाजिक व्यवस्था को संतुलित करने के निर्देश मनुष्य जाति को उपलब्ध हुए। व्यक्तियों से परिवार तथा परिवारों से समाज का निर्माण होता है। मनुष्य के लिए इस संसार में एकाकी जीवन

* सहायक आचार्य– संस्कृत, राजकीय स्नातक महाविद्यालय सुजानपुर टीहरा, जिला–हमीरपुर, हिमाचल प्रदेश

व्यतीत करना सम्भव नहीं है। उसे दूसरे व्यक्तियों के ज्ञान और क्रिया के सहयोग की निरन्तर अपेक्षा रहती है। महाभारत के अनुसार मनुष्य जब समाज में एकत्व भाव से रहता है तो विविध ज्ञान प्राप्त करने की उसकी अपेक्षा पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार समाज ही मनुष्य की सुख-समृद्धि और विकास का मुख्य आधार है। अतः हम कह सकते हैं कि शान्तिपूर्ण आपसी सम्बन्धों की अवस्था का नाम समाज है।

महाभारतकालीन समाज

वर्ण व्यवस्था- उत्पत्ति काल में वर्णों में कोई अन्तर नहीं था अर्थात् ब्रह्मा जी से उत्पन्न होने के कारण यह सारा जगत् ब्राह्मण वर्ण ही था, परन्तु विभिन्न कर्मों और गुणों के कारण उनमें वर्णभेद हुआ- **न विशेषोऽस्ति..... कर्मभिर्वर्णतां गतम्।**[२] जो गुरु के वचनानुसार सत्य, व्रत एवं नियमों का पालन करता है, संस्कारों से सम्पन्न है, वेदों के स्वाध्याय में संलग्न है तथा शौच एवं सदाचार का पालन करते हुये यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करता है, वही ब्राह्मण कहलाता है।[३] ब्राह्मण को चाहिए कि वह पुत्र, देह-गेह आदि में आसक्त न होकर अध्ययन-अध्यापन द्वारा लोक-कल्याण करता हुआ परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा रखे।[४] जो उचित युद्ध आदि कर्म का सेवन करता है, वेदों के अध्ययन में रत है, ब्राह्मणों को दान देता है और प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है- **दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते।**[५] शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और स्वामित्व भाव ये सब ही क्षत्रिय वर्ण के स्वाभाविक कर्म हैं- **दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम।**[६] जो राजा समस्त प्रजा को धनक्षय, प्राणनाश और दुःखों से बचाता है, वह प्रजा के लिये परमेश्वर माना गया है।[७] जो वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन और खेती का काम करने की रुचि रखता है वह वैश्य कहलाता है- **वणिज्या पशुरक्षा..... वैश्य इति संजितः।**[८] दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रता पूर्वक धन संग्रह ये वैश्य के कर्म हैं। वैश्य को चाहिए कि वह सदा उद्योगशील रहकर पुत्रों के समान पशुओं का पालन करे- **पितृवत् पालयेद् .....स समाचरेत्।**[९] वाणिज्य, कृषि, धन की वृद्धि, पशुओं की रक्षा, ऋण का लेन-देन और गौ-रक्षा करना ये सभी कार्य वैश्य के स्वाभाविक धर्म हैं।[१०] प्रजापति ने अन्य तीनों वर्णों के सेवक के रूप में शूद्र की सृष्टि की है और तीनों वर्णों के ऊपर शूद्रों के भरण-पोषण का कार्यभार भी सौंपा गया है-**प्रजापतिर्हि.....परिचर्या विधीयते।**[११] तीनों वर्णों में से जिस किसी की सेवा (सहायता) करने के लिये चतुर्थ वर्ण शूद्र था, और उनको ही उसकी जीविका की व्यवस्था भी करनी पडती थी- **कल्प्यां तेन तु ते प्राहुवृत्तिं धर्मविदो जनाः।**[१२] शूद्रों की गणना परिवार के सदस्य के रूप में की जाती थी। उदाहरण के लिए यदि स्वामी संतानहीन हो तो सेवा करने वाले शूद्र को ही उसके लिये पिण्डदान करना चाहिये ऐसा वर्णन देखने को मिलता है। यदि स्वामी बूढ़ा या दुर्बल हो तो शूद्र को चाहिए कि उसका भली प्रकार से भरण-पोषण करे। यदि स्वामी के धन का किसी कारणवश नाश हो जाय तो शूद्र को अपने कुटुम्ब के पालन से बचे हुए धन के द्वारा उसका भरण-पोषण करना चाहिए- **अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये।**[१३]

हालांकि महाभारतकाल में शूद्रों के लिए शिक्षा, धर्म, यज्ञ सम्बन्धी कुछ सामाजिक प्रतिबन्ध भी प्रचलित थे।

आश्रम व्यवस्था– ब्रह्मचर्य युक्त गुरुकुलवास को ही ब्रह्मचर्याश्रम कहा जाता था। ब्रह्मचारी को बाहर–भीतर की शुद्धि तथा व्रत–नियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में रखना आवश्यक था। नियम से जो शिष्य गुरु की आराधना करके वेदाध्ययन करता है उसका समस्त मानसिक संकल्प सिद्ध होता है– **गुरुं यस्तु समाराध्य.....सिध्यते चास्य मानसमिति।**[१४] ब्रह्मचर्यावस्था अनेक प्रकार के विधि–निषेधों से नियन्त्रित होती थी, किन्तु यह नियन्त्रण ब्रह्मचारी के व्यक्तित्व के सन्तुलित विकास में बाधक नहीं अपितु साधक माना जाता था। गृहस्थ आश्रम को अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है– **यथा वायुं समाश्रित्य.....वर्तन्ते सर्व आश्रमः।**[१५] जो गृहस्थी धर्मयुक्त धन संग्रह करता है और उस धन का श्रेष्ठ यज्ञों में उपयोग करता है वह मनुष्य गृहस्थ होकर भी त्यागी माना गया है।[१६] गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी ही स्त्री में ही अनुराग रखते हुए ऋतुकाल में ही समागम करे। देवताओं की आराधना करते हुए सदा क्षमाभाव बनाए रखे।[१७] वह देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त होकर मन को मोक्ष में लगाये; क्योंकि ऋण शोधन किये बिना गृहस्थी नरकगामी होता है– **'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य.....सेवमानो व्रजत्यधः।**[१८] गृहस्थाश्रम के उपरान्त मनुष्य वन का आश्रय ग्रहण करे।[१९] वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर आरण्यक शास्त्रों का अध्ययन करता रहे, पवित्र तीर्थों के किनारे एकान्त वनों में तप करे, क्योंकि जो मुनि सब प्राणियों को अभयदान देता है, उसे किसी प्राणी से भी भय प्राप्त नहीं होता है– **अभयं सर्वभूतेभ्यो....भयमुत्पद्यते क्वचित्।**[२०] महाभारत में भी धृतराष्ट्र, गांधारी, कुन्ती, विदुर व संजय के वानप्रस्थ ग्रहण का वर्णन भी देखने को मिलता है। जीवन के अन्तिम भाग में प्राजापत्य का अनुष्ठान करके सब कुछ त्यागने का विधान है। इस स्थिति में सन्यासी मनुष्य काम, क्रोध, दर्प, निन्दा, अभिमान तथा हिंसा से सर्वथा दूर रहता है।[२१] जो मनुष्य इस प्रकार बुद्धि को संकल्परहित कर नियमों का पालन करता है, वह सन्यासाश्रम द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।[२२]

परिवार व्यवस्था– महाभारत में सदाचार, दान, धर्म, अतिथि सत्कार, पंच महायज्ञ का पालन करने वाले परिवार को ही उच्चकुल की संज्ञा दी गयी है। जिस कुल में तप, इन्द्रिय संयम, स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र– विवाह, अन्नदान और सदाचार यह सात गुण विद्यमान हैं, वह महाकुल कहलाता है– **तपो दमो ब्रह्मवित्तं.....महाकुलानि।**[२३] जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने माता–पिता को कभी कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्नचित्त से धर्म का आचरण करते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं– **ते कीर्तिमिच्छन्ति कुले.....त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि।**[२४] अतः धर्म का उल्लंघन करने से उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं। जिस कुल में भाई–बन्धु परस्पर भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्म का आचरण नहीं कर सकते और बिना धर्म के वे सुख प्राप्त नहीं कर पाते।[२५] जो पुत्र माता–पिता के आदेश का पालन करने के लिये सदा तत्पर रहता है, उसे ही यथार्थ पुत्र कहा जाता है– **मातापित्रोर्वचनकृद्धित पथ्यश्च य सुतः।**[२६] **नास्ति मातसमो गुरुः।**[२७]

महाभारत काल तक षोडश संस्कारों का विधान लोकप्रिय हो चुका था। द्रुपद ने जब अपनी पुत्री शिखण्डिनी को पुत्र रूप में घोषित किया तब उसके समस्त पुत्रोचित संस्कार करवाये- **पुत्रवत् पुत्रकार्याणि सर्वाणि समकारयत्।**[२८] काश्यप मुनि के द्वारा पाण्डवों के वेदोक्त संस्कारों का भी उल्लेख मिलता है- **गर्भाधानादिकृत्यानि चौलोपनयनानि च।**[२९] विवाह संस्कार ही जगतोत्पत्ति का मूल कारण है। महाभारत में ब्रह्म, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, राक्षस, क्षात्र, गन्धर्व, पैशाच इत्यादि विवाह के आठ प्रकार वर्णित किये गए हैं। दहेज-प्रथा की आलोचना करते हुए भीष्म कहते हैं कि मैंने स्वयं विचित्रवीर्य हेतु तीन कन्याओं का अपहरण किया था।[३०] अतः जो क्रय और शुल्क को मान्यता देते हैं वे मनुष्य धर्मज्ञ नहीं हैं, क्योंकि भार्या किसी प्रकार से क्रय या विक्रय करने की वस्तु नहीं है- **'न चैतेभ्यः प्रदातव्या.....विक्रय्या कथञ्चन।**[३१] इसके अतिरिक्त ऋषि-मुनियों ने गृहस्थ मनुष्य को अन्न-दान, जलाशय, बगीचे, वृक्षारोपण इत्यादि जन कल्याण सम्बन्धी कार्यों को करने के उपदेश भी दिये हैं। जिस मनुष्य के खोदवाये हुए जलाशय में सदा साधु, गौएँ तथा अन्य प्राणी पानी पीते हैं, वह अपने समस्त कुल का उद्धार कर देता है, ऐसा ऋषि-मुनियों का मत है- **स कुलं.....साधवश्च नराः सदा।**[३२] वृक्ष लगाने वाला पुरुष अपने पूर्वजों और भविष्य में होने वाली संतानों का भी उद्धार कर देता है, इसलिये वृक्षों को अवश्य लगाना चाहिये। किन्नर, नाग, राक्षस, देवता, गन्धर्व, मनुष्य और ऋषियों के समुदाय ये सभी वृक्षों का ही आश्रय लेते हैं। अतः जो वृक्षों का पुत्रवत् पालन करता है, वे वृक्ष भी उसे पुत्र की भाँति परलोक में तार देते हैं- **वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु।**[३३]

निष्कर्ष- महाभारत के अध्ययन से अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में चारों वर्ण अपने-अपने वर्णक्रमानुसार कार्य करते थे। आश्रम व्यवस्था मनुष्य को भावी जीवन के लिए परिपक्व बनाती थी। गृहस्थी मनुष्य के लिए अन्नदान, यज्ञ, तर्पण, वृक्षारोपण, संस्कार इत्यादि स्वच्छ आचरण रखने के उपदेश ऋषि-मुनियों द्वारा समय-समय पर दिए जाते थे। हालांकि महाभारत काल तक दहेज-प्रथा, सती-प्रथा, शूद्रों के साथ शिक्षा, यज्ञ तथा सामाजिक स्तर पर पारस्परिक भेदभाव, जुआ इत्यादि कुरीतियाँ भी प्रचलित हो चुकी थी। वास्तव में ये कुरीतियाँ कालक्रम का एक रूप है जो हर युग में आती जाती रहती हैं, परन्तु प्रत्येक युग में ज्ञानामृत स्वरूप ग्रन्थों या यूँ कहें कि ऋषि-मुनियों की वाणी को जो मनुष्य अपने मन में धारण कर लेते हैं वे इन दुष्कर्मों से ऊपर उठकर जीवन को प्रभु चरणों में समर्पित कर मुक्ति की ओर ले जाते हैं।

सन्दर्भ

१. संस्कृति एवं धर्मशास्त्र, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, पृ. ४९७
२. महाभारत, शान्तिपर्व, १८८.१०
३. महाभारत, शान्तिपर्व, १८८.३
४. वही, १८८.१४
५. महाभारत, शान्तिपर्व, १८९.५

६. महाभारत, भीष्मपर्व, ४२.४३
७. वही, ९७.९
८. महाभारत, शान्तिपर्व, १८९.६
९. वही, ६०.२२
१०. श्रीमद्भागवतपुराण, ७.११.२४
११. महाभारत, शान्तिपर्व, ६०.२८
१२. वही, ६०.३४
१३. वही, ६०.३६
१४. महाभारत, शान्तिपर्व, १९१.९
१५. मनुस्मृति, ३.७७
१६. वही, १२.८
१७. वही, ६१.११
१८. वही, ६.३५
१९. मनुस्मृति, ६.२
२०. महाभारत, शान्तिपर्व, १९२.४
२१. वही, १९२.३
२२. वही, १९२.६
२३. महाभारत, उद्योगपर्व, ३६.२३
२४. वही, ३६.२४
२५. वही, ३६.५३
२६. महाभारत, आदिपर्व, ८५.२५-३०
२७. महाभारत, अनुशासनपर्व, १०६.६५
२८. महाभारत, उद्योगपर्व, १८९.१४
२९. महाभारत, आदिपर्व, १२३.३१
३०. महाभारत, अनुशासनपर्व, ४४.३८
३१. वही, ४४.४६
३२. वही, ५८.१०-१४
३३. महाभारत, अनुशासनपर्व, ५८.३०

सहायक ग्रन्थ

- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, महाकवि-कालिदास, व्याख्याकार- कृष्णकुमार एवं सुभाष वेदालंकार, अलंकार प्रकाशन, आदर्श नगर, जयपुर- ३०२००४, सं. २००४
- आचार्य बलदेव उपाध्याय, भासनाटकचक्रम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी- २२१००१, २००८
- उत्तररामचरितम्, महाकवि-भवभूति, व्याख्याकार- रमाकान्त त्रिपाठी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी- २२१००१, चतुर्थ संस्करण १९९९

- किरातार्जुनीयम्, महाकवि भारवि, श्रीबदरी नारायण मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९०
- चम्पूभारतम्, टीकाकार, आचार्य श्रीरामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००६
- डॉ. श्रीकृष्ण ओझा, भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, आदर्श प्रकाशन (चौड़ा रास्ता), उदयपुर, २००८
- दूतवाक्यम्, महाकवि भास, डॉ. पुष्पा गुप्ता, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २००८
- बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, ५-बी कस्तूरबा सिगरा, वाराणसी, १९७३
- बालभारतम्, डॉ. गंगासागर राय राजशेखर प्रणीत, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९८९
- वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६०
- महाभारत के स्त्री पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ उषा शर्मा।
- महाभारतकालीन समाज और शिक्षा, नत्थू लाल गुप्त, नम्न प्रकाशन ४३७८, दिल्ली, २००२
- रामायण, महर्षि बाल्मीकि, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, १९२४
- रामायण, महर्षि बाल्मीकि (सचित्र, हिन्दी अनुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१४
- रामजी उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९३

कोश-ग्रन्थ

- अमरकोश, अमरसिंह, व्याख्याकार- रामाश्रमी, चौखम्बा संस्कृत-प्रतिष्ठान, दिल्ली-११०००७, सं. २०००
- भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, राजवंशसहाय, हीरा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, २००३
- संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, न्यू भारती बुॅक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, २००२

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

वायु प्रदूषण के वैदिक समाधान

डॉ. अमित शर्मा*

वैश्विक जगत् विश्व वर्तमान समय में विविध समस्याओं से व्याप्त है। सम्प्रति इस जगत् में कोई भी ऐसा देश नहीं है जो किसी न किसी प्रकार की समस्या से आवृत्त न हो। इन सब प्रकार की समस्याओं में से पर्यावरण प्रदूषण सबसे विकट समस्या हमारे समक्ष है। यह प्रदूषण प्रतिदिन विश्व को अपनी कठोर भुजाओं में जकड़ रहा है। आधुनिकता की दौड़ में मनुष्य ने अनेक प्रकार के रसायनों के प्रयोग को इतना बढ़ा दिया है कि उनके दुष्प्रभावों ने पर्यावरण को प्रदूषित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। पर्यावरण को स्वस्थ और संतुलित करने के लिए समाज में पर्यावरण विषयक जागरूकता अति आवश्यक है। यह प्रदूषण अनेक प्रकार का है, यथा– वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, भूमि प्रदूषण इत्यादि। प्रदूषण की इस विकट समस्या से इस समय सम्पूर्ण विश्व ग्रस्त है, परन्तु यह प्रदूषण वर्तमान काल में ही उत्पन्न हुआ है क्या? क्या प्राचीन काल में लोगों के समक्ष यह समस्या नहीं आती थी? यदि थी तो वह किन उपायों से इस समस्या का समाधान करते थे? आज हम इस समस्या से निपटने के लिए क्या उपाय कर रहे हैं? और किस हद तक सफल हो रहे हैं? ये सभी प्रश्न विचारणीय हैं। वायु सृष्टि संचालन और विकास के लिए परमावश्यक तत्त्व है। यदि वायु प्रदूषित होगी तो समस्त पर्यावरण प्रभावित होगा।

भारत में प्राचीन काल से ही प्रकृति–पुरुष में संबंध प्राप्त होता है। प्रकृति–पुरुष को जीवन का अभिन्न अङ्ग माना गया है। जीवनतंत्र की रचना पंचतत्त्वों से मिलकर हुई है। यह पंचतत्त्व क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश हैं। इन पंचतत्त्वों में परस्पर समन्वय और निर्भरता पाई जाती है। जिससे प्रकृति और मानव के मध्य निरंतर संतुलन बना रहता है। परन्तु वर्तमान में मानव ने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए और आधुनिकता की दौड़ में प्रकृति का अत्यंत दोहन किया है, जिसके फलस्वरूप प्राकृतिक संतुलन विकृत हुआ है। वैदिक काल में प्रकृति की सुंदरता का दर्शन होता था, क्योंकि वेदों में प्रकृति के प्रत्येक अङ्ग को देवता स्वरूप मानकर उनकी पूजा–अर्चना का विधान था। वैदिक साहित्य के प्रत्येक अङ्ग में हमें इसके उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। जिससे हमें पर्यावरण संरक्षण का संदेश प्राप्त होता है। वैदिक ऋषि पर्यावरण के सभी घटकों के प्रति सचेत ही नहीं, अपितु सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए सतर्क भी था। इस शोधपत्र में पर्यावरण संरक्षण विशेषतः वायु प्रदूषण के वैदिक समाधानों से सम्बद्ध तथ्यों का विवेचन किया गया है।

* संस्कृत शिक्षक, राजकीय उच्च विद्यालय कोटला कल्लर, जिला–हमीरपुर, हिमाचल प्रदेश।

सृष्टि के पंचतत्त्वों में वायु पर्यावरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। मानव जीवन के लिए इसका सर्वाधिक प्रत्यक्ष महत्त्व है, इसलिए वैदिक ऋषियों ने वायु की शुद्धि पर विशेष बल दिया। शुद्ध वायु बलप्रदायिनी होती है। वायु में अनेक प्रकार की अन्य गैसों का समावेश भी होता है, जिनके अलग-अलग गुण होते हैं।

यददा वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो धेहि जीवसे।[१]

अर्थात् इस वायु के गृह में जो अमृत तत्त्व की धरोहर निहित है, वह हमारे जीवन के लिए अत्यावश्यक है। शुद्ध वायु कई रोगों के लिए औषधि का काम करती है। शुद्ध वायु स्वास्थ्यवर्धक भी होती है। संप्रति हमारा वायुमण्डल पूर्णतः प्रदूषित हो चुका है। परमाणु शक्तियों और नाभिकीय ईंधनों के पुनः पुनः किये गए परीक्षण, कारखानों के विषाक्त धुएँ से, वाहनों के विसर्जित धूम से, वायुमण्डल इतना प्रदूषित हो गया है कि श्वास रोगियों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। इसी प्रकार अन्य त्वचा संबंधी रोग व श्वास के रोग सहज ही देखने को मिल जाते हैं।

वैदिक ऋषि इस प्रदूषण को नहीं स्वीकारते हैं। वायुमण्डल को शुद्ध रखने के लिए उन्होंने यज्ञ का विधान किया। यज्ञ की आहुतियों से उत्पन्न धुएँ और सुगन्धित आहुति द्रव्यों से संपूर्ण वातावरण प्रदूषण रहित हो जाता है- **त्वं नो वायवेषामपूर्व्यः सोमानां प्रथमः प्रीतिमर्हसि।**[२] पर्यावरण में वायु का संतुलित शुद्ध व सुखप्रद होना आवश्यक है। अथर्ववेद में वायु के आयु समृद्धिकारक और शांतिकारक होने का प्रसङ्ग प्राप्त है- **यथाऽन्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु।**[३] ऋग्वेद में वायु के अमृतभूत ऑक्सीजन को नष्ट न होने देने के सन्दर्भ में कहा गया है- **नू चिन्नू वायोरमृतं वि दस्येत्।**[४] वायु संरक्षण और उसके शोधकतत्त्वों के विषय में कहा गया है- **यो पर्वतः सोमपृष्ठा आपः वातः पर्जन्यः आदग्निस्ते क्रव्यादमशीमन्।**[५] अर्थात् पर्वत, जल, वायु, अग्नि और वर्षा यह प्रदूषण को नष्ट करते हैं तथा पर्यावरण को शुद्ध करते हैं। शुद्ध पर्यावरण में ही समस्त प्राणी जीवित रहते हुए वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में इसका सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है-

सर्वो वै तत्रा जीवति गौरश्व पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्।।[६]

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने ऋग्वेद में आए हुए 'महत् उल्ब' शब्द से ओजोन परत का आशय लिया है। उनके अनुसार उल्ब शब्द गर्भस्थ शिशु के ऊपर ढकी झिल्ली के लिए आता है। यहाँ पृथ्वी को एक गर्भस्थ शिशु मानकर उसकी रक्षा के लिए विद्यमान ओजोन की परत को महान् और स्थूल उल्ब कहा गया है। ओजोन परत सूर्य की पराबैंगनी किरणों का अवशोषण करके पृथ्वी के पेड़ पौधों तथा प्राणियों की रक्षा करती है। इस प्रकार वेदों में वायु के विचार प्राप्त होते हैं। सोम के विषय में कहा गया है कि- **वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः।**[७] अर्थात् वायु द्वारा शुद्ध होकर रसतत्त्वों को प्राप्त हुआ सोम प्रत्येक शरीर में मुख से नाभि तक पहुँचता है। वायु शक्तिशाली है

इसलिए इससे शत्रुओं का तेज नष्ट करने के लिए प्रार्थना की गई है।

वायो यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।[८]

वैदिक ऋषि वनस्पतियों एवं वृक्षों को भी देवता मानते हैं। पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त वृक्ष एवं वनस्पति न केवल प्राकृतिक सुंदरता का अपितु जीवनदायक वायुमण्डल का संरक्षण भी करते हैं। वैदिक परंपरा में अनेक वृक्ष–वनस्पतियों जैसे– आम, नीम, केला, पीपल, बरगद, ऑवला, शमी, तुलसी, मंदार आदि के पूजन का विधान किया गया है। इनमें देवताओं का वास माना जाता है। यह केवल धार्मिक विश्वास के कारण ही नहीं है, बल्कि इसका उद्देश्य हमारे पर्यावरण का संरक्षण है। इन वृक्षों का औषधीय एवं वैज्ञानिक महत्त्व भी सर्वविदित ही है। इन वृक्षों के पर्यावरणीय महत्त्व को देखते हुए ही इनके मूल से पत्तों तक प्रत्येक भाग में देवताओं का वास बताया गया है। जिससे मनुष्य इनके प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना रखें एवं नष्ट करने का प्रयास न करें।

वैदिक ऋषि अग्निहोत्र में वृक्ष एवं वनस्पतियों की शाखाओं, जड़ों, छाल, फलों व औषधियों पर होने वाले प्रभाव से पूर्णतः परिचित थे। मंत्रों में वनस्पति जगत् के लिए पृथक्–पृथक् आहुति देने का विधान वनस्पतियों के वैशिष्ट्य एवं संरक्षण की आवश्यकता को सिद्ध करते हैं।

मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहौषधीषु स्वाहा।[९]

अथर्ववेद में वनस्पतियों के संरक्षण हेतु निर्देश प्राप्त होता है– **रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ। उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनी।**[१०] अर्थात् हे औषधियो! तुम किसी के द्वारा भी हिंसा न करने वाली, धन वाली तथा निरोग करने वाली बनो। तुम मेरे केशों को दृढ़ करो। इस मंत्र में औषधियों की हिंसा न करने से ऋषि का तात्पर्य वनस्पतियों के संरक्षण से है जो कि पर्यावरण संरक्षण के लिए अति आवश्यक है।

इन समस्त वृक्षों व वनस्पतियों के विकास पर ही वायु की शुद्धता निर्भर है। वायु के संरक्षण में यह समस्त वनस्पतियाँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन्हीं के प्रभाव से वायु आरोग्यकारक और रोगविनाशक बनती है। एक वैदिक मंत्र में कल्याणकारी वायु हमारे अंतःकरण के लिए औषधि बनकर आवे व हमारी आयु को बढ़ाए ऐसी प्रार्थना की गई है– **वात आ वातु भेषजं शभु मयोभु नो हृदे। प्राण आयूंषि तारिषत्।**[११] इस मंत्र में वायु को रोगनाशक बताया गया है। शुद्ध व स्वच्छ वायु हमारे लिए अमूल्य औषधि के समान कार्य करती है। प्राणायाम से यह पवित्र वायु हमारे शरीर में पहुँचकर समस्त रोगों को दूर करती है। सम्प्रति मानवीय क्रियाओं के द्वारा अनेक रासायनिक पदार्थों के वायु में मिलने से वायु की पवित्रता और शुद्धता नष्टप्राय हो गई है। वायु शुद्धिकरण के लिए यज्ञ का अत्यन्त महत्त्व है। अथर्ववेद में समस्त ब्रह्माण्ड को बाँधने वाला नाभिस्थल यज्ञ को बतलाया गया है– **'यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।'**[१२] यज्ञ से उत्पन्न हुए धुएँ से वायुमण्डल में व्याप्त अनेक प्रकार के हानिकारक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। वैदिक काल में यज्ञ को नित्य कर्म बतलाया गया है। अथर्ववेद में पर्यावरण सुरक्षा की दृष्टि से प्रातः एवं सायं यज्ञ का विधान किया

गया है।

अग्निहोत्रं सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः।

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता।।[१३]

मनुस्मृति में भी कहा गया है कि यज्ञ में डाली गई आहुतियाँ धुएँ के माध्यम से सूर्य तक पहुँचती हैं। सूर्य से वर्षा होती है। वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा की रक्षा होती है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।[१४]

श्रीमद्भगवद्गीता में भी वर्णन है कि यज्ञ से ही पर्जन्य की उत्पत्ति होती है। पर्जन्य से अन्न और अन्न से समस्त भूत अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति बताई गयी है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[१५]

यज्ञ बिना हविद्रव्यों के संपन्न नहीं होता है। यज्ञ की प्रथम हवि है– घृत। यजुर्वेद में कहा गया है कि उत्कृष्ट समिधाओं से यज्ञ अग्नि को प्रज्ज्वलित करो। पुनः उस अतिथि रूप अग्नि को घृत से प्रबुद्ध करो और प्रदीप्त अग्नि को उत्तमोत्तम हवि की आहुतियाँ प्रदान करो।

मन्त्र में चार प्रकार के हविद्रव्यों का उल्लेख किया गया है।

१. सुगन्धियुक्त २. पुष्टिवर्धक ३. रोगनाशक ४. मिष्ट

इन चार प्रकार के द्रव्यों का वर्णन महर्षि दयानंद सरस्वती ने संस्कार विधि में निम्न रूप में किया है।

१. सुगन्धित होम द्रव्य– कस्तूरी, केसर, अगर, श्वेत चंदन, इलायची, जायफल, सावित्री इत्यादि।

२. पुष्टिकारक– घृत, दूध, फल, कन्द–मूल, अन्न, चावल, गेहूँ इत्यादि।

३. रोगनाशक– सोमलता, गिलोय इत्यादि।

४. मिष्ट– शक्कर, शहद, छुआरे, बादाम, द्राक्ष इत्यादि।

यथावसर जिस प्रकार के आहुति द्रव्य की आवश्यकता हो उसी प्रकार के द्रव्यों को आहुति के लिए प्रयोग करने से व्यक्ति विशेष और बाह्य वातावरण को लाभान्वित किया जा सकता है। यज्ञाग्नि के लिए जो समिधाएँ प्रयुक्त की जाती हैं वे पर्यावरण की दृष्टि से नियत नियत वृक्षों से लाई जाती हैं। जैसे– पलाश, शमी, बरगद, पीपल, गूगल, आम, बिल्बादि। अथर्ववेद में कहा गया है कि जिस मनुष्य को गूगल औषधि का दिव्य गन्ध प्राप्त होता है उसे रोग पीड़ित नहीं करते हैं।

ना तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।

यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते।।[१६]

प्राचीन काल में महामारी फैलने पर बड़े-बड़े यज्ञ किए जाते थे, जिन्हें चातुर्मास्य या भैषज्य यज्ञ कहा जाता है। ये रोगों को दूर करने के लिए होते हैं।[१७] यज्ञ से उत्पन्न हुए धुएँ का विश्लेषण करने पर यह पाया गया है कि जलती हुई शक्कर में वायु शुद्ध करने की क्षमता पाई जाती है तथा इसके धुएँ में क्षयरोग, चेचक, हैजा आदि बीमारियों के कीटाणुओं और उनके संक्रमण को नष्ट करने की शक्ति भी होती है। घृत व चावल में केसर मिलाकर अग्नि में आहुति देने से रोग के कीट मर जाते हैं। धुएँ का कड़वापन समाप्त करने के लिए अगर का प्रयोग किया जाता है।

अतः लेखक का मत है कि यदि पर्यावरण को शुद्ध रखना चाहते हैं तो नित्य व नैमित्तिक यज्ञों से उसे इतना शक्तिशाली बनाया जाए कि प्रकृति में स्वच्छता की स्वयं संचालित प्रक्रिया स्वतः ही चलती रहे। वन औषधियाँ जिनमें तुलसी, ज्योतिर्मयी, निर्गुंडी, पोदीना, पुनर्नवा, अश्वगंधा, तथा देववृक्ष पीपल, गूगल, बरगद, ऑवला, अमृत आदि वृक्षों का व्यापक आरोपण अभियान चलाना चाहिए। सम्भवतः इसी कारण से हमारे भारतीय मनीषियों ने यज्ञ को एक नित्य कर्म बनाया था। अशोक इत्यादि वृक्ष ध्वनिप्रदूषण रोकने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सभी प्रकार के वृक्ष वायु को शुद्ध रखने में अत्यन्त सहायक होते हैं। तुलसी जैसे पौधों से निकली गंध वातावरण को शक्तिदायक व कीटनाशक बनाती है। तुलसी के पास दीपक जलाने से उसके पत्तों से ओज़ोन गैस निःसरित होती है, जो पर्यावरण में व्याप्त हानिकारक पराबैंगनी विकिरणों को रोकने में सहायक है। कृषिकार्यों में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग बंद करके जैविक कृषि को बढ़ावा देने का सभी को प्रयास करना चाहिए। अतः वैदिक समाज में पर्यावरण संबंधी प्रचुर विचार प्राप्त होते हैं। जिनको अपनाने से सम्प्रति भी प्रदूषण की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

सन्दर्भ

१. ऋग्वेद, १०.१८६.३
२. तदेव, १.१३४.६
३. अथर्ववेद, ४.८.३९
४. ऋग्वेद, ६.३७.३
५. अथर्ववेद, ३.२१.१०
६. तदेव, ८.२५
७. तदेव, ६.५१.१
८. तदेव, २.२०.५
९. यजुर्वेद, २२.२८
१०. अथर्ववेद, ६.२१.३
११. ऋग्वेद, १०.१८६.११
१२. अथर्ववेद, ९.१५.१४
१३. ऋग्वेद, ९.५५.३
१४. मनुस्मृति, ३.७६
१५. श्रीमद्भगवद्गीता, ३.१४
१६. अथर्ववेद, १९.३८.१
१७. गोपथब्राह्मण, उ. १.१९

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

स्मृति ग्रन्थों में वर्णित राजाओं का न्यायिक विधान

डॉ. वैशाली चतुर्वेदी*

प्राचीन भारत में राज्य में राजा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा को शासक या सम्राट कहते हैं। तत्कालीन राजनीतिज्ञों ने राजा या शासक को सर्वश्रेष्ठ माना है। आचार्य कौटिल्य ने तो राजा को ही संक्षेप में राज्य कह डाला है– **'राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः।'**[१] मनुस्मृति में कहा गया है कि इस संसार में राजा के न होने पर प्रजायें भयभीत होकर भागने लगी। आतधान ने सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए राजा की सृष्टि की।

अराजकेहि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।।[२]

राजा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि वरुण चन्द्रमा और कुबेर के सारभूत नित्य अंश को लेकर राजा की सृष्टि की–

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेषयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।[३]

जिस राजा की प्रसन्नता में लक्ष्मी पराक्रम में विजय और क्रोध में मरण कहते हैं। अतः वह राजा सर्वतेजोमय है। कोई अज्ञानवश होकर राजा के साथ द्वेष करता है। यह निःसंदेह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि राजा उसके विनाश के लिए मन को नियुक्त करता है (चेष्टायुक्त होता) है।

मनुस्मृति का स्पष्ट निर्देश है कि प्रजा को चाहिए कि राजा के द्वारा बनाये गये नियमों का कदापि उल्लंघन न करे। राजा के महत्त्व को **'याज्ञवल्क्यस्मृति'** तथा **'शुक्रनीति'** में राजा को प्रधान कहा गया है। प्राचीन भारत में राजा न्याय से सम्बन्धी समस्त कार्यों को देखता था। वह राजा के साथ ही साथ राज्य का प्रधान अनुशासक और न्यायाधीश था तथा राजा को महान् उत्साही, अर्थदाता, कृतज्ञ, विनीत, सत्त्वमुक्त, कुलीन, पवित्र, कोमल, धार्मिक एवं विद्या में निपुण होना चाहिए।

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।
विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक्शुचिः।।
अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रेऽपरुषस्तथा।
धार्मिकोऽव्यसनचैव प्राज्ञः सूरो रहस्यवित्।।

* कानपुर, उत्तर प्रदेश, भारत।

स्वरन्धगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तर्थव च।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्र्य्यां चैन नराधिमः।।[४]

राजा प्रजा को सम्यक् न्याय दे सके। इसके लिए परमेश्वर ने दण्ड की सृष्टि की, क्योंकि ''दण्ड के भय से सभी लोग राज नियम का पालन करते हैं।'' दण्ड की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि दण्ड ही राजा है। यही नेता और शासक है। दण्ड के विषय में राजा मनु इस प्रकार लिखते हैं।

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्म तेजोमयं दण्डमसृजत्वपूर्वमीश्वरः।।
तस्य सर्वाणि भूतानिस्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्माणि चलन्ति च।।[५]
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वां दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जगति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।।[६]

राजा का मुख्य कर्तव्य है कि यह उचित दण्ड के द्वारा ही प्रजा का सम्यक् पालन करे। यदि राजा समुचित दण्ड का प्रयोग नहीं करता है तो बलवान् लोग दुर्बलों को निश्चित ही सताने लगेंगे। अतः राजा को चाहिए कि वह समुचित दण्ड का प्रयोग करते हुए सभी प्रकार से प्रजा की रक्षा करे।

अतः राजा को चाहिए कि वह सम्यक् विचार कर न्याय की रक्षा के लिए सम्यक् दण्ड का प्रयोग करे। यदि राजा दण्ड के योग्य को दण्डित करता है तो उसे यज्ञ का फल प्राप्त होता है। इसके विपरीत निर्दोष को दण्डित करने वाले राजा के स्वर्ग फल का विनाश हो जाता है। अतः राजा को चाहिए कि वह प्रतिदिन शास्त्रज्ञ विद्वानों का परामर्श लेकर दण्ड का विधान करें–

इति संचिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक्।
व्यवहारन्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्।।[७]

समुचित दण्ड का प्रयोग करते हुए राजा धर्म, अर्थ और काम से समृद्धि युक्त होता है। इसके विपरीत विषयाभिलाषी, क्रोधी, क्षुद्र राजा दण्ड के द्वारा ही मारा जाता है। दण्ड धर्म से भ्रष्ट राजा बान्धवों सहित नष्ट हो जाता है।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरपूचाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्।।[८]

अतएव राजा को विवेकपूर्वक दण्ड का प्रयोग करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह अपने राज्य में न्याय के अनुसार दण्ड का प्रयोग करे। शत्रुओं के देश में कठोर दण्ड का प्रयोग करे और स्वाभाविक मित्रों से सरल व्यवहार करे। मनुस्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि समुचित दण्ड प्रयोग करने वाले धनहीन राजा का ही यश सर्वत्र फैल जाता है और अनुचित दण्ड देने वाले राजा

का अपयश फैलता है। राजा को वृद्ध विद्वानों का सम्मान करना चाहिए और स्वयं विनयशील होना चाहिए। काम, क्रोधादि व्यसनों से दूर रहकर इन्द्रियजयी होना चाहिए। मद्यपान, द्यूतक्रीडा, स्त्रीव्यसन और शिकार से अत्यन्त कष्टदायक है। क्रोधजन्य व्यसन, चुगलखोरी, दुःसाहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदोष, कठोर वचन और कठोर दण्ड, अत्यन्त ही कष्टकारक है। राजा को चाहिए कि यह राज्य में सुख-शान्ति और समृद्धि के लिए तथा न्याय के लिए योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति करे और उनके साथ सन्धि-विग्रह आदि कार्यों के सम्बन्ध में मन्त्रणा करे। योग्य विद्वान् व्यक्ति को प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त करे।

मनुस्मृति के अनुसार प्रजाओं का न्यायपूर्वक पालन करना, बाह्मणों और विद्वानों का आदर करना और युद्ध से डरकर न भागना राजा का श्रेष्ठ धर्म है। राजा को अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए और प्राप्त की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए और प्राप्त धन आदि को बढ़ाना चाहिए और बढ़ाये गये धन आदि का सत्पात्रों को दान देना चाहिए। राजा को अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए और प्रजा को समुचित न्याय देने के लिए सदैव उचित दण्ड का प्रयोग करना चाहिए। राजाओं के लिए मनुस्मृति का यह कथन विशेष महत्त्व रखता है कि बगुला जिस प्रकार अतिचञ्चल एवं जल में रहने वाली मछलियों को भी एकाग्रचित्त होकर पकड़ लेता है, वैसे ही राजा भी अत्यन्त विचारित तथा सुरक्षित अर्थ के विषय में एकाग्रचित्त होकर विचार करें। सिंह जैसे स्वल्पकाय होने पर भी बलवान् तथा विशालकाय मतवाले हाथियों पर पराक्रम करता है तथा क्षुद्र पशुओं पर भी पूर्ण शक्ति से ही आक्रमण करता है, वैसे ही राजा भी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर शत्रु पर आक्रमण करे। भेड़िया जिस प्रकार गोपाल आदि से अत्यन्त सुरक्षित पशु के बच्चों को जरा सी असावधानी होने पर झपटकर ले जाता है उसी प्रकार राजा भी शत्रु के थोड़ी सी असावधानी करते ही उसका नाश करने लगे और खरगोश जिस प्रकार व्याधि आदि से घिरे रहने पर भी उनसे छिप या भागकर किसी सुरक्षित स्थान का आश्रय लेता है, उसी प्रकार राजा भी प्रबल शत्रुओं के द्वारा आक्रान्त होने पर अवसर देख उसके पंजे से निकलकर किसी बलवान् राजा का आश्रय ले। राजा को चाहिये कि सर्वप्रथम वह साम, दाम और भेद का प्रयोग करे। दण्ड का प्रयोग अन्त में करना चाहिए। राज्य की समद्धि के लिए राजा को साम और दण्ड का यथोचित् प्रयोग करना चाहिए। राज्य और प्रजा की रक्षा राजा का परम कर्तव्य और धर्म है। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति में इस प्रकार कहा गया है-

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नपो राष्ट्रं हन्या च परिपन्थिनः।।[९]

जिस प्रकार निकौनी करने वाला (किसान खेत में से) घास को उखाड़ता है और धान्य को बचाता है, उसी प्रकार राजा राज्य की रक्षा करे और शत्रुओं का नाश करे।

यदि राजा अपने राज्य में सम्यक् न्याय व्यवस्था नहीं कर पाता है और उसकी प्रजा पीड़ित होने लगती है तो वह शीघ्र ही अपने राज्य और बन्धु-बान्धवों सहित जीवन से ही नष्ट हो जाता है। प्रजा को सम्यक् न्याय प्राप्त हो सके। उसके अधिकार और कर्तव्य व्यवस्थित हो सके। इसलिए

राजा को चाहिए कि यह राज्य की रक्षा के लिए दो-दो, तीन-तीन या पाँच-पाँच गावों के समूहों का एक-एक रक्षक नियुक्त करे। मनुस्मृति में यह भी व्यवस्था की गयी है कि चोर आदि के उपद्रव को शान्त करने में असमर्थ एक गाँव का रक्षक दस गाँवों के रक्षकों, दस गाँवों का रक्षक बीस गाँवों के रक्षक को, बीस गाँवों को रक्षक तीस गाँवों के रक्षक को और सौ गाँवों का रक्षक हजार गाँवों के रक्षक को स्वयं उक्त घोर आदि के उपद्रवों से शीघ्र सूचित करें-

ग्रामदोशान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने।।
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशातेशस्तु सहस्त्रपतये स्वयम्।।[१०]

यह भी विधान किया गया है कि गाँव निवासियों के गाँव सम्बन्धी और अन्य विभिन्न कार्यों को राजा का सहयोगी निरन्तर आलस्य रहित होकर देखें।

अतः राजा को चाहिए कि सन्तुलित 'कर' ग्रहण करे। राजा को राष्ट्र में न्याय और धर्म की रक्षा के लिए कार्य आदि की अधिकता के कारण प्रधानमंत्री की नियुक्ति करे और प्रत्येक स्थिति में चोर आदि से प्रजाओं की रक्षा करता हुआ राज्य में संतुलित न्याय व्यवस्था कायम करे। प्रजा पालन और उन्हें समुचित न्याय देना यही राजा का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।।
निदिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते।।[११]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में न्याय सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य थे। इन न्याय सम्बन्धी कार्यों के द्वारा ही राजा प्रजा का परिपालन करते हुए महान् बनता था।

सन्दर्भ-सूची

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ८.२
२. मनुस्मृति, ७.३
३. मनुस्मृति, ७.४
४. याज्ञवलक्यस्मृति, १.१३.३०९-११
५. मनुस्मृति, ७.१४.१५
६. मनुस्मृति, ७.१८
७. याज्ञवल्क्यस्मृति-आचारोऽध्यायः, ३६०
८. मनुस्मृति, ७.२८
९. मनुस्मृति, ७.११०
१०. मनुस्मृति, ७.११६-१७
११. मनुस्मृति, ७.१४४

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

Bhagavadgita: a study of the human mind and personality development

Dr. Haripada Mahapatra *

Abstract– Many philosophers have tried to find out the answer of the question, who am I ? But psychologist endeavour on what is the nature of 'I'? A person, as he thinks, feels and behaves, accordingly he develops his personality. Psychologists study behaviour, experience and mental processes. It seeks to understand and explains how the mind works and how different mental processes result in different behaviours. When we observe others as common people our own points of view or our ways of understanding the world influences our interpretation of their behaviours and experiences. Psychologists try to minimize such biases in their explanations of behaviour and experience by seeking their analysis in scientific and objective way. Hence according to Robert Baron, psychology is best defined as "The science of behaviour and cognitive processes."

Our Indian scriptures have given valuable explanation to clarify many psychological theories. The Bhagavadgītā is one among them. The first chapter of the Gītā starts with the confused and nervous mind of Arjuna and further, in the whole of the Gītā God gives precious and valuable teachings to make him strong.

According to modern psychology the human mind never stops to think because its natural tendency is to create thoughts in the mind. Though the body remains stable, the mind cannot remain still. It continuously does its work of thinking. The Bhagavadgītā explains in detail how happiness and sorrow depends on the quality of thoughts. And thoughts reveal the personality of a person.

This paper will highlight on the role of mind elaborated by the Bhagavadgītā as a practical analysis of being a guide to one's life, to clarify one's vision and to understand the life to develop own

* Associate Professor, Dept. of Sanskrit, Sankrail Anil Biswas Smriti Mahavidyalaya Kultikri, Sankrail, Jhargram, West Bengal

personality.

Keyword: Bhagavadgītā, personality, role of mind, self-realisation, triguṇas, meditation, self purification.

Introduction– There are many analogues received for the mind such as, "mind is the unbridled horse, it is fickle, and its thoughts are the waves of ocean" etc. It is said that mind is a set of cognitive faculties including consciousness, perception, thinking, judgement, language and memory. It is usually defined as the faculty of an entity's thoughts and consciousness[1]. It holds the power of imagination, recognition and appreciation, and is responsible for processing feelings and emotions, resulting in attitudes and actions.

It is quoted in the Chā Up that, the word manaḥ is derived in the sense of that through which one thinks, and it means the internal organ, one should meditate on that (mind) to Brahman, the Supreme[2]. In Vedāntasāra, Sadānandayogī gives philosophical teachings for the Mumukṣutva (liberation), along this he also thoroughly explained on Vijñānanmayakoṣa, Manomayakoṣa and prāṇamayakoṣa. There he says that Manomayakoṣa is the combination of mind and sense organs[3].

According to Saṃkhya mind is the eleventh sense organ, Kapila muni has given the definition of mind, he has mentioned that, the sense organ, manaḥ the mind possesses the nature of both (the sensory and motor organs). It is the deliberating principle, and is also called a sense organ since it possesses properties common to the sense organs.

Its multifariousness and also its external diversities are owing to special modifications of the Attributes[4]. In the ṚV mind is used in the sense of spirit. In the ṚV, seer of mantra has prayed that, "may our spirit return to us for active and efficient living, may we see the sun"[5]. Again in the next mantra also it is appealed that, "O elders and enlightened ones, may you give us again the spirit, so that we may live with family of the living"[6] . Hence, these two examples indicates that, mind is also called spirit, which is cetana or living being. Ādi Śaṅkarācārya has mentioned in his Gītā Bhāśya that, mind is the inner faculty which is also called Antaḥkaraṇa[7].

The mind is too mighty to be curbed easily. It runs thousands of miles within a moment. It is restless even when we sleep. In twinkling

of an eye, it travels to far off regions whether man is asleep or awake. It occupies the position of a king in a body and all the senses are his ministers. They are always at his beck and call, just as the sun provides light to all the planets, so does the mind impart light (guidance) to all the senses. But for the mind's light, the senses are too blind to function. It is in the interest of man that he should curb and control his mind which is very powerful. If he does not conquer his mind, he will be conquered by it. Consequently his mind, being let loose, will do havocs by means of vicious thoughts and his whole life will be ruined. That is why in YV, a Vedic devotees pray to Supreme Being to endow their mind with pure thoughts, they says that, "this mind of mine which travels too far which is light of lights which wanders to far-off places whether I am asleep or awake, May resolve to do what is good and pure"[8].

Mind is so wonderful that, we cannot see it, but it has a great effect on the human personality. To understand the human mind, it is very necessary to understand 'thoughts', which is a continuous process of the mind and also we have to perceive its impact on the development of the personality.

Impact of thoughts on inner personality– The greatness of a man depends upon the sublimity of his thoughts. It is said that, he, who is capable of curbing and controlling his mind, can conquer the whole world. Vedic religion also urges upon purity of mind which alone ensures peace of mind which is missing everywhere, and salvation of soul which is the goal of man. It is mentioned in Bhagavadgītā that "He who conquers his mind attains communion with supreme Lord, for he has achieved perfect tranquillity. Joy and sorrow, heat and cold, honour and dishonour are in equanimity to such a man[6]. Purity of external body is of no use when one's internal mind breeds impure thoughts". In order to stay away from negative thoughts, the AV preaches the prayer, "Oh sin of mind, go away, are you speaking negatively? I do not want you. Live in trees and forest, my mind is engaged in my house and cows"[7]. According to the Bh Gīt, self-realization is not possible without achieving stability of the mind or the state of "sthithaprajña". Stability of mind means to remain the same in all circumstances and under all conditions, for which the determined thoughts help to human being. Swami Chinmayananda in his

commentary explains that "when one is feeling no mental attachments, either to the sense-objects or to the actions in the outer world, it is one of the symptoms of perfect mastery over the mind"[8].

When we try to control our mind, we practice converting thoughts from negative to positive. As our mind begins to create elevated thoughts, we also begin to talk and act wisely. Consequently, we feel happy and our happy personality creates conducive environment for others.

Importance of meditation to discipline mind and self purification– Bh Gīt gives the technique of meditation to purify oneself. In the 6th chapter, it is explained that the one-pointedness of mind requires the mind be restrained and its fickleness be controlled[9]. While meditating, one should concentrate the mind and control the thinking faculty and the senses. One should practice yoga, for self-purification. Meditation is the best way to discipline mind. The state, in which perfection is attained, is described in the next verse, that is:

Yatroparamte chittaṃ niruddhaṃ yogasevayā[10]–When the mind, disciplined by the practice of Yoga becomes tranquil and when the yogi beholding the self (Ātman) by his self, is contented in the self.

Shri Vinoba Bhave has explained in his book "The mind is crowded with the thoughts of limitless Saṃsāra- affairs and happenings in the outside world. Concentration of the mind is impossible until all those thoughts are put out."[11] To achieve any goal it is very necessary to be a focused for our aim and need to keep aside unnecessary thoughts, rather continuously we have to create thoughts regarding our achievement, so those thoughts help us to reach our goal. In Indian philosophy ultimate goal of human life is to attain liberation or to know own real personality. Kuppuswami has mentioned that, one who is possessed of unclean minds, who cannot shun off bad practices, who cannot control passion, anger etc., do not perceive the Ātman even though they are engaged in penance[12]. Bh Gīt also described that "Manaḥ prasādaḥ saumyatvaṃ maunamātmavinigrahaḥ"[13] cheerfulness of mind, gentleness, calmness and contemplation, self- control, purity of thought - are called, the penance of mind.

In the 6th chapter Arjuna describes the restless nature of mind, he says that the mind, verily is restless, turbulent, obstinate powerful

therefore, it is as difficult to control it as the wind [14]. Then lord gives the answer that, the mind is restless and hard to control; but by practice and by dispassion it can be done [15]. Lord explains further the result of concentrated mind, he says "Praśāntamansaṃ hyenaṃ yoginaṃ sukhamuttamam" whose mind becomes calm, because he renounces all Tāmasika and Rājasika passions, and is free from mundane pursuits and distractions, he attains Sāttvika happiness [16].

In the modern age, we are habituated to the use of gadgets like - tabs, laptop, and mobile phones on day to day basis. One can stay without food for a day but cannot do without a cell phone. No doubt, these gadgets are very useful, that they are providing lot of information, but we are actually becoming very irritated and disturbed due to unnecessary and waste information. Many a times it is the cause for mental stress. To tackle such circumstances it is very essential to discipline our mind, because all unnecessary information diverts our mind from useful to waste activities. Therefore, Bhagavadgītā has given very practical and useful method to keep our mind stable and disciplined in order to be a successful person.

Effect of mind on physical health– Swami Chinmayananda in his commentary says that, the mind, generally functioning as an efficient "receiving-anddespatching-clerk," receives the information of the perceptions conveyed to it by the sense-organs, and after arranging these perceptions in order, conveys them to the intellect for its judgement. The intellect, with reference to its own stored-up memories of similar experiences in the past, comes to final decisions which are conveyed to the mind for execution; and the minds in its turn issues the necessary orders for the organs-of-action to act upon. All these are happening at every moment, all through our waking-state, in our intelligent existence in the midst of the objects of the world [16]. So the process between mind, intellect and sense organs is very quick and subtle. In Bh Gīt we get to know of this process and its effect on the physical state.

The first and second chapter of the Bh Gīt reflects the Arjuna's confused state of mind. Arjuna says, I feel the limbs of my body quivering and my mouth drying up [17], my whole body is trembling, my hair is standing on end, [18] and ultimately he was unable to stay on the battlefield, and he was forgetting himself, on account of the

weakness of his mind [19], his confused state of mind affected his body.

Similarly at present times we see that many people are suffering from various diseases, the root cause being a stressful mind. Hence it is the necessary for everyone to know the art of keeping the mind stable, to which the Bh Gīt is a key we need to keep an attention on the mind every moment as the Mind fluctuates from positive to negative very easily.

The root cause of all atrocities and injustice is man's mind. The source of peace and prosperity, beneficence and benevolence is also man's mind. It is the mind which leads senses to virtue or vice, benevolence or malevolence, philanthropy or misanthropy [20]. Thus we can find following verse in Bh Gīt which explains that, "the mind is the best friend for him who conquers it; the same mind is the worst enemy for him who fails to conquer it" [21]. So mind overpowers to sense organs and human being act accordingly good or bad.

Impact of Triguṇas on mind to develop personality– In Bh Gīt chapter fourteen Guṇatraya vibhāga Yoga elaborates on Triguṇas, purity, passion and inertia born of "Prakṛti". The concept of Sattva is rather that of perfect purity and luminosity, the opposite of "foul-darkness" called Tamas, and distinctly different from the "dusky-colour of Rajas [22]. We will find in the Saṃkhya that these Guṇas are function for the sake of the Purusa like a lamp. Sattva is buoyant and shining, Rajas is stimulating and moving, Tamas is heavy and enveloping [23]. Triguṇas theory which provides lessons for understanding personality as a dimension of human behaviour an attempt has also been made to understand the dynamics of Guṇas that is Sattva, Rajas and Tamas. The Guṇa inherited by an individual is liable to change due to physical, psychological and social influences and the behaviour of an individual, both overt and covert is determined by the prakṛti (Personality) operating at that time. As prak?ti governs the perception, cognition, motivation and values of an individual, it also influences well-being. A deep understanding in this area could go a long way in human development, which could help in understanding the relationship between personality and behaviour in the Indian context [24].

The Guṇas have no separate existence as attributes inherent in a

substance. All that we can say is that they are as many different mental climates in which the minds behave so differently from each other according to their given moods, governed by the predominating Guṇa at any particular moment of observation. Knowledge arises from Sattva, greed from Rajas, heedlessness; delusion and ignorance arise from Tamas [25]. When the mind is pure and serene, when there is the least agitation in it, the light emerging through it is steady and properly focussed; therefore, the result of the predominant Sattva in our mind is ultimately the rediscovery of the self, the experience of pure wisdom.

When the mind is seething with a constant eruption of desires it will be continuously in a state of agitation, and in its natural anxiety to pacify itself, it has to rush out into the world to procure and fulfil its endless demands; and in doing so it expresses its greed. Tamas veils the capacity to perceive rightly the world outside and it also destroys our powers of right judgement. He, who is under the deluding effects of Tamas in himself, miscalculates the world and expects from its false experiences, which are impossible, and in the delusion, curses the world for its imperfections [26]! In Bh Gīt it is mentioned that who has firm mind, strength, health and happiness they are dear to one endowed with Sattva. Their food, sacrifices, austerity and charity are also Sāttvika [27]. These can be Rājasik or Tāmasika if someone behaves different than Sattva Guʔa as mentioned above. Therefore as Guṇas affects to mind so the personality develops, it can be Sāttvika, Rājasik or Tāmasika. For a better life it is necessary to develop Sattvika personality.

Conclusion– According to modern psychology the human mind never stops thinking because its natural tendency is to create thoughts. Though the body remains stable, the mind cannot remain still. It continuously does its work of thinking. The Bh Gīt explains in detail how happiness and sorrow depends on the quality of thoughts. The Bh Gīt gives utmost importance to human mind and its dispositions. The destiny of an individual is framed by his thoughts and the attitude behind his actions.

Bh Gīt exhibits the way to live a balanced life which is lost in present times. We are losing balance in our thought, emotions and in actions. Bh Gīt gives many pathways to make balance in everything,

detachment is one among them. If we will use any one tool in our daily action it can make a great difference in our life. A verse from chapter eighteen where Lord says, always think of Me, become my devotee, worship Me and offer your homage unto me. Thus you will come to Me without fail. I promise you this because you are my very dear friend [28]. These words stress that; one should concentrate his mind upon God, a Supreme father. Concentration of the mind on the form of Īśvara constitutes the most confidential part of knowledge, and this is disclosed to Arjuna because Arjuna is the dearest friend of Kṛṣṇa's. Everyone who follows the path of Arjuna can become a dear friend of Almighty and obtain the same perfection as Arjuna. While performing any task if we remember the mantra of "Manmanābhava", all of our tasks will be successful due to a focused mind and goal will be achieved.

In the conclusion it can be said that, the Bh Gīt helps to orient a self-image in the light of a wholesome vision. The knowledge which is contained in the Bh Gīt is one of the important keys for shaping the human-personality. As the teachings of Bh Gīt are towards disciplining (or taming, training) one's mind which is the ultimate formula to attain hope, consolation, peace and hence our Mana will become Sumana.

References

01. Bhagavadgītā, As it is, original Sanskrit text, translation by Prabhupada Swami, The Bhaktivedanta book trust, Mumbai, 1986.
02. Chāndogya Upanisad, The principal upanisads, with original text, English translation by Board of oriental scholars, Edited by F. max Mullar, Chaukhamba Sanskrit pratishthan, Delhi, 2006.
03. Vedāntasaraḥ, Sadanada, Edited and Translated by M. Hiriyanna, Oriental book agence, Poona, 1962.
04. Saṃkhyakārikā, with original text, translation by Swami Virupakshananda, Sri Ramakrishana Math, Madras, 2016.
05. Ṛgveda Saṃhita, with the commentary of Sāyaṇācārya, Edited by N. S. Sontakke and C. G. Kashikar, Vaidika Saṃśodhana Maṇḍala, Poona, 1983.
06. Śri Śankara's Gītā Bhāśya, translation by C. V.Ramachandra Aiyar, Edited by R.R. Diwakar and S. Ramakrishnan, Ramakrishna Math, Hyderabad, 1988.
07. Yajurveda, Sanskrit text, translation by Devi Chanda, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1990.

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

संस्कृत कथा साहित्य में शैक्षिक चिन्तन

(पञ्चतन्त्र एवं हितोपदेश के विशेष सन्दर्भ में)

उमाशंकर सोनी*

सारांश– शिक्षा मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह कोई पदार्थ या वस्तु नहीं जो किसी को प्रदान की जाए, शिक्षा एक चेतना है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से व्यक्ति धीरे–धीरे अपने स्वयं पर नियन्त्रण स्थापित करता है। विद्वानों व महापुरुषों के महान् विचारों का अवगमन करने हेतु मनुष्य का शिक्षित होना आवश्यक है। शिक्षा सम्पन्नता के फलस्वरूप ही गुप्त युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहलाता था। इस युग में भारतीय संस्कृति सभ्यता जीवन ज्ञान आदि की दृष्टि से भारतीय जीवन उच्चता को प्राप्त हो गया था। गुप्त युग में महाकवि कालिदास, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, दार्शनिक असंग, वसुबन्धु, ईश्वरकृष्ण, बुद्धघोष और दिङ्नाग जैसे महान् विद्वान् हुए हैं। संस्कृत कथा साहित्य के अनुपम ग्रन्थ पञ्चतन्त्र की रचना भी इसी युग की देन है। गुप्त काल तक भारतीय जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में सन्तुलन एवं सामंजस्य की स्थिति थी, परन्तु मध्यकाल में हमारा शैक्षिक एवं सांस्कृतिक पतन प्रारम्भ हो गया, हमारी स्वतन्त्र चिन्तन व खोज की प्रवृत्ति धीरे–धीरे समाप्त होने लग गई तथा हम संकीर्ण मनोवृत्ति के शिकार हो गये जिससे हम आज तक मुक्त नहीं हो पाये हैं ।

शिक्षा मानव जीवन का अभिन्न अंग है। भारतीय वैदिक विधान के अनुसार बालक का प्रथम विद्यापीठ माता का गर्भ ही माना जाता था। जन्म के पश्चात् माता ही बालक की प्रथम गुरु होती थी। माता व परिवारजनों के द्वारा ही बालक सर्वप्रथम चलना–फिरना, बोलना, अभिवादन करना, सत्कार करना आदि सिखाती है। शिक्षण के इस क्रम में कथा–कहानियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। बालक दादी–नानी की कथाओं के माध्यम से विभिन्न शिक्षाओं को स्वाभाविक रूप से प्राप्त करते थे। संयुक्त परिवारों में घर के बड़े–बुजुर्ग अक्सर बालकों को विभिन्न कहानियाँ सुनाकर उनकी जिज्ञासाओं को शान्त करते थे। इन कथाओं का बालकों के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता था। कथाओं के माध्यम से बड़ी से बड़ी बात को रोचक बनाकर बालकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है जिससे उनकी जिज्ञासाओं की शान्ति होती है एवं जीवन मूल्यों का निर्माण होता है।

बीज शब्द : शिक्षा, कथा, संस्कृति, सभ्यता, जीवन, ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, गुरु, NEP, शिक्षण, उपनिषद्, कृष्ण, ईश्वर, इन्द्रिय, प्रेम, आख्यान, नीति, सन्धि, विग्रह।

* शोधछात्र, संस्कृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान, भारत

प्रस्तावना– आंग्ल शासन से मुक्ति के पश्चात् भारत ने विभिन्न शिक्षा नीतियों के माध्यम से शिक्षा पद्धति में सुधार के प्रयास किये तथा वर्तमान में हमारे सामने NEP २०२० है जिसमें भारतीय ज्ञान परम्परा से पुनः जुड़ने हेतु प्रत्येक भारतीय के प्रयास अपेक्षित हैं। इस नवीन शिक्षा नीति में कहानियों के महत्त्व को स्वीकारते हुए कहा गया है कि "कहानी आधारित शिक्षण–शास्त्र को प्रत्येक विषय में एक मानक शिक्षण–शास्त्र के तौर पर देखा जाएगा।"[१] तथा "सभी भाषाओं को एक मनोरंजन और संवादात्मक शैली में पढ़ाया जाएगा।"[२] कहानियों में मनोरंजन और संवादात्मक शैली में ही अध्यापन करवाया जाता है जिससे छात्रों में विषयावगमन की शक्ति व कल्पना शक्ति का विकास होता है। नवीन शिक्षा नीति में कहा गया है कि "संस्कृत संविधान की आठवीं अनुसूची में वार्णित एक महत्त्वपूर्ण आधुनिक भाषा होते हुए भी इसका शास्त्रीय साहित्य इतना विशाल है कि सारे लैटिन और ग्रीक साहित्य को भी यदि मिलाकर इसकी तुलना की जाये तो भी इसकी बराबरी नहीं कर सकता। संस्कृत साहित्य में गणित, दर्शन, व्याकरण, संगीत, राजनीति, चिकित्सा, वास्तुकला, धातु विज्ञान, नाटक, कविता, कहानी और बहुत कुछ (जिन्हें संस्कृत ज्ञान प्रणालियों के रूप में जाना जाता है) के विशाल खजाने हैं।"[३]

कथा की सरसता के विषय में आचार्य विश्वनाथ का कथन उल्लेखनीय है–

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।[४]

महाकवि बाणभट्ट ने कथा को नव–वधू के समान अनुराग पूर्ण बताते हुए कहा है –

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।।[५]

अर्थात् जिस प्रकार से नव वधू अपने मधुर वार्तालाप, हाव–भाव, कटाक्ष आदि के माध्यम से पति के हृदय में कौतूहलपूर्ण अनुराग उत्पन्न कर आकर्षित कर लेती है। उसी प्रकार काव्यशास्त्रीय गुणों से युक्त कल्पना शैली से गुम्फित कथा पाठक को उस ग्रन्थ का अवगमन करने हेतु विवश कर देती है।

कथा के चित्ताकर्षक स्वरूप का वर्णन बाणभट्ट ने इस प्रकार किया है–

हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैनवैः पदार्थैरूपपादिता कथाः।
निरन्तरश्लेषधनाः सुजातयो महास्त्रजश्चम्पककुड्मलैरिव।।[६]

अर्थात् उज्जवल दीपकों के समान प्रकाशित तथा नवीन पदार्थों से युक्त चमेली के पुष्पों से गुम्फित आकर्षक माला लोगों के मन को बलात् हर लेती है उसी प्रकार श्लेषादि अलङ्कारों से युक्त तथा उत्तम काव्य स्वरूप वाली कथा सहृदय पाठक के मन को आकर्षित कर लेती है।

कथा की इस विशिष्ट आकर्षक शैली का प्रयोग सभी विषयों व विविध क्षेत्रों में शिक्षा प्रदान करने के लिए किया जाता रहा है। नवीन कथाओं की रचना कर बाल मन में विभिन्न विषयों से सम्बद्ध शिक्षाओं का प्रवेश आसानी से कराया जा सकता है। जैसा कि कठोपनिषद में आत्म ज्ञान

के श्रेष्ठ ज्ञाता यमराज ने अपने श्रेष्ठ शिष्य नचिकेता को रथरूपक की कल्पना द्वारा कथा शैली में इन्द्रियों व आत्मा का व्यवस्थित ज्ञान करवाया इस प्रसङ्ग में यमराज कहते हैं–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।[७]

अर्थात् नचिकेता! आप आत्मतत्व को रथी (शरीर रूपी रथ का स्वामी) शरीर को रथ (वाहन) बुद्धि को रथ संचालक सारथि तथा मन को इन्द्रिय रूपी अश्वों को वश में करने वाली लगाम जानें।

इन्द्रियाणि हयानाहु विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।[८]

मनीषियों ने इन्द्रियों को अश्व की संज्ञा दी है तथा रूप, रस, गन्धादि विषयों को गोचर अर्थात् इन्द्रिय रूपी अश्वों में विचरण करने का मार्ग बताया है। इस प्रकार शरीर इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को (सुख, दुःखादि का अनुभव करने वाला भोक्ता बताया गया है।

इस प्रकार कल्पना शक्ति तथा संवादात्मक शैली में कथाओं का गुम्फन कर शिष्यों में आसानी से शिक्षाओं का स्थापन किया जा सकता है। आवश्यकता है अच्छी शिक्षाओं से युक्त आकर्षक कथाओं के गुम्फन की। संवादात्मक शैली के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण "श्रीमद्भगवद्गीता"[९] का श्रीकृष्ण–अर्जुन संवाद तथा कठोपनिषद् का यम–नचिकेता संवाद है।

संवादात्मक शैली के साथ ही शिक्षा की उन्नति तभी सम्भव है जब गुरु व शिष्य के मध्य परस्पर स्नेह व सहयोग की भावना हो यदि गुरु व शिष्य में परस्पर ईर्ष्या व द्वेष की भावना होगी तो शिक्षण अपने वांछित लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर पायेगा। गुरु व शिष्य दोनों साथ–साथ मिलकर ही एक–दूसरे की उन्नति में सहायक हो सकते हैं। कठोपनिषद् के मङ्गलाचरण में यह गुरु शिष्य सहयोग भावना स्पष्ट दिखाई देती है। इसमें परमात्मा से गुरु–शिष्य दोनों के लिए साथ में मङ्गलकामना करते हुए कहा गया है–

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।[१०]

अर्थात् वह परब्रह्म परमात्मा ॐ जो कि 'ईश्वर का वाचक'[११], पद है हम दोनों गुरु और शिष्य की साथ–साथ में रक्षा करें। हम दोनों का साथ–साथ ही पालन–पोषण करें। हम दोनों साथ–साथ में तेजस्वी बनें। हमारा अध्ययन भी तेजस्वी होवे हम दोनों परस्पर द्वेष नहीं करें। तथा हमारे त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक शान्ति होवे। यहाँ स्पष्ट संकेत है कि विद्या तभी सफल होगी जब गुरु–शिष्य दोनों सहकार भावना से विद्या का आदान–प्रदान करेंगे। यमराज जैसे विद्या के जानकार गुरु तथा नचिकेता जैसे ज्ञान पिपासु शिष्य के मध्य संवादात्मक शैली में चर्चा से ही परमज्ञान की प्राप्ति

संभव हुई। वैसे ही लौकिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी श्रेष्ठ गुरु के साथ ही शिष्य का भी ज्ञान पिपासु व श्रद्धावान् होना आवश्यक है। तथा संवादात्मक शैली से अधिगम की गति बढ़ जाती है।

कथा साहित्य का प्रारम्भ वैदिक साहित्य से माना जा सकता है। ऋग्वेद संवाद सूक्तों का शैक्षिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। 'पुरुरवा-उर्वशी संवाद'[१२] की कथा प्रत्येक काल में स्त्री-पुरुष में जीवन्त प्रतीत होती दिखाई देती है। 'यम-यमी संवाद'[१३] से प्राप्त शिक्षा का पालन आज तक मानव जाति द्वारा किया जा रहा है कि आज भी सहोदर विवाह वर्जित है। 'सरमा-पणि संवाद'[१४] से मानव-पशु प्रेम की शिक्षा स्पष्ट परिलक्षित होती है। यहाँ पणि सरमा नामक कुतिया को मित्र और बहिन कहते हैं। इस संवाद से जीव जन्तुओं के साथ आत्मीयता का बीज प्रकट होता है। यही नीति कथाओं का मूल स्रोत है; क्योंकि नीति कथाओं में पशु-पक्षियों को ही संवाद का माध्यम बनाया गया है। तथा 'विश्वामित्र-नदी संवाद'[१५] से नदियों के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा भाव की शिक्षा प्राप्त होती है तथा नदियों का मानव के प्रति प्रेम परिलक्षित होता है।

ऋग्वेद के अक्ष-सूक्त में कितव नामक जुआरी की कथा के माध्यम से जुआ खेलने से व्यक्ति की कैसी दयनीय व बुरी स्थिति हो जाती है। वह जुआरी बहुत बार पराजित होकर भी उस आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाता है जुए के कारण कितव की पत्नी की अवस्था भी प्रतिकूल हो जाती है। उसकी पत्नी दीन-हीन होकर अन्दर ही अन्दर जलती रहती है। उसकी माता मार्ग में झगड़ती है। कितव का जीवन बहुत ही दुःखमय हो जाता है। अन्त में उसे शिक्षा प्राप्त होती है कि जुआ हानिकारक है एवं दीन बनाने वाला है। उसने जान लिया कि कृषि कर्म ही सुखकारी कार्य है।[१६] ऋग्वेद में सविता द्वारा जुआ नहीं खेलने की शिक्षा इस प्रकार दी गई है।

अक्षैर्मादिव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जायातन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।।[१७]

अर्थात् सविता जुआरियों के प्रति शिक्षा देती हुई कहती है कि हे जुआरियों पासों से मत खेलो। खेती से बहुत से कृषि कार्य को करो। उससे जितना धन प्राप्त करोगे उससे ही आनन्द का अनुभव करो। उस धन से ही तुम गायों और अपनी स्त्री को प्राप्त करो। इस प्रकार प्रत्येक आख्यानों का सार मानव मात्र के शिक्षण के लिए ही है।

"आत्रेयी और कपाला का आख्यान नारी चरित्र की उदात्तता और तेजस्विता का विशद प्रतिपादक है तथा सौभरी और काण्व का आख्यान सङ्गति की महिमा का प्रतिपादन करता है।[१८]

"ब्राह्मण ग्रन्थों में कथाएँ विस्तृत रूप में प्राप्त होती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कथा के साथ उपदेशात्मक पद्यों का भी समावेश मिलता है। उपनिषदों में जीव जन्तु कथाएं और विकसित रूप में हैं। छन्दोग्य उपनिषद् में जाबालि के पुत्र सत्यकाम को बैल हंस और मद्गु (एक जलचर पक्षी) ब्रह्म विद्या का उपदेश देते हैं।[१९]

महाभारत तो कथाओं का भण्डार गृह है जिनसे कई प्रकार की शिक्षाएं प्राप्त होती हैं।

"महाभारत में पशु कथाएं और विकसित रूप में मिलती है शान्ति पर्व तथा अन्य पर्वों में पञ्चतन्त्र की कथा के लिए उपयोगी पूरी सामग्री मिलती है।"[२०]

रामायण में नीति-कथाओं का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है जिनका शैक्षिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। रामायण कथा की प्रसिद्धि का संकेत रामायण में निम्न प्रकार किया गया है-

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।[२१]

महर्षि पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य में व्याकरण अध्ययन के अवान्तर प्रयोजनों के अन्तर्गत 'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधाद्'[२२] द्वारा तैत्तिरीय संहिता की इन्द्र और वृत्रासुर की कथा को उद्धृत करते हुए स्वरों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा प्रदान की है।

नीति कथाओं में पञ्चतन्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसकी रचना विष्णु शर्मा द्वारा लगभग ३०० ई. पूर्व की गई। राजनीति शास्त्र की शिक्षा मनोवैज्ञानिक ढंग से देने के कारण पञ्चतन्त्र पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि इसका विश्व की ५० से अधिक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। पह्लवी, सीरियन और अरबी अनुवाद के द्वारा इसका विस्तृत प्रचार यूरोप में हुआ है और इसके ही एक रूपान्तर तन्त्रोपाख्यान का प्रचार जावा थाईलैंड और लाओस आदि में अत्यधिक मात्रा में है।[२३]

पञ्चतन्त्र पाँच तन्त्रों में कुल ७५ कथाओं-उपकथाओं में शेर बेल, काक, कूर्म, मृग, चूहा, कौए और उल्लू, बन्दर और मगर तथा ब्राह्मणी व नेवला आदि की कथाओं के माध्यम से अनेक शिक्षाएं दी गई हैं, जो बालकों पर अमिट छाप छोड़ती है। पञ्चतन्त्र की कथाएं पशु पक्षियों पर आधारित होने से इन कथाओं ने मानवमात्र को अपनी ओर आकृष्ट किया है तथा सभी ने इसे समान रूपेण अपनाया है। इन कथाओं की शैली सरल, सरस व बालोपयोगी है। ये कथाएँ शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का पूर्णतया पालन करती हैं; क्योंकि इनके माध्यम से बालकों को खेल-खेल में ही विनोदपूर्ण ढंग से शिक्षित किया जा सकता है। पञ्चतन्त्र का निर्माण लोक प्रसिद्ध संपूर्ण अर्थशास्त्रों (राजनीति शास्त्रों) का सार लेकर लोकोपकार के लिए विभिन्न शिक्षाएं प्रदान करने के लिए ही किया गया है। पञ्चतन्त्र के माध्यम से दी गई शिक्षा का सहारा लेकर इस भूल-भुलैया रूपी संसार में मनुष्य अपनी बुद्धि रूपी नाव से पार हो सकता है। पञ्चतन्त्र में समय समय पर आने वाली मुसीबतों को दूर करने के लिए उपाय बतलाए गए हैं। पञ्चतन्त्र नैतिक धार्मिक व्यावहारिक राजनीतिक व व्यावसायिक आदि सभी शिक्षाओं पर प्रकाश डाला गया है यथा लब्ध प्रणाश नामक चतुर्थ तन्त्र में कहा है-

समुत्पन्नेषु कार्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते।
स एव दुर्गं तरति जलस्थो वानरो यथा।।[२४]

इस पद्य में प्रसिद्ध मकर-वानर की कथा की ओर संकेत करके शिक्षा दी गई है कि विपत्ति आने पर घबराना नहीं चाहिए बल्कि उसका तुरन्त समाधान ढूँढना चाहिए जिस मनुष्य की बुद्धि

विपत्ति में भी कुण्ठित नहीं होती है वही व्यक्ति विपत्ति व दुर्गम स्थानों से भी छुटकारा पा जाता है। जैसे वह वानर अगाध जल के बीच फँस जाने पर भी अपनी बुद्धि बल से ही बचकर निकल आया था। सञ्जीवक-पिङ्गलक कथा के प्रसङ्ग में ही शिक्षा दी गई है- **'न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः।'**[२५] अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि थोड़े से लाभ के लिए अपने विशेष लाभ को नष्ट न करें। व्यक्ति को बिना प्रयोजन के किसी कार्य में हाथ नहीं डालना चाहिए। यह शिक्षा 'कीलोत्पाटीवानरकथा'[२६] के माध्यम से प्राप्त होती है।

आज कल प्रायः देखने में आता है कि बालक व बड़े भी जब एकान्त में होते हैं तो वे वहाँ होने वाली विभिन्न ध्वनियों से डर जाते हैं केवल शब्दमात्र से नहीं डरना चाहिए इस बात की शिक्षा पञ्चतन्त्र में 'गोमायु-दुन्दुभि कथा'[२७] के माध्यम से प्राप्त होती है। यही शिक्षा हितोपदेश में 'घण्टाकर्ण-कुट्टनी कथा'[२८] के माध्यम से दी गई है। अधिक लालच करना ठीक नहीं है इस शिक्षा को देने हेतु पञ्चतन्त्र में 'लोभी बगुले और केकड़े की कथा'[२९] बताई गयी है इस कथा में यह भी बताया गया है कि जिसमें बुद्धिबल होता है वही बलशाली है। वह सब कार्यों को कर सकता है। अतः व्यक्ति को अपने बुद्धिबल को बढ़ाने के उपाय निरन्तर करते रहना चाहिए। 'भासुरक सिंह व शशक कथा'[३०] में भी बुद्धि बल का महत्त्व बताते हुए कहा है-

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
वनसिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः।।[३१]

इस कथा में विष्णु शर्मा ने राज्य धर्म एवं विवेक नीति का ज्ञान भी कराया है। जिस व्यक्ति के कुल और स्वभाव का ज्ञान न हो उसे कभी भी अपने यहाँ आश्रय नहीं देना चाहिए। क्योंकि दुष्ट व्यक्ति अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता और ऐसे व्यक्ति को प्रश्रय देना अत्यन्त कष्टकारक हो सकता है। उक्त शिक्षा पञ्चतन्त्र में मन्दसर्पिणी नामक जूं एवं अग्निमुख नामक खटमल की कथा[३२] के माध्यम से दी गई है।

'काष्ठ भ्रष्ट कच्छप कथा'[३३] के प्रसंग में ही ग्रंथकार कछुए के मुख से धैर्य की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि धैर्य से व्यक्ति कठिन से कठिन परिस्थिति का भी सामना कर सकता है अतः प्रारब्ध के बिगड़ जाने पर भी धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिए कहा भी है-

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्सः।
जाते समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे सांयात्रिको वाञ्छति तर्त्तुमेव।।[३४]

अर्थात् घोर विपात्ति काल में भी मनुष्य को धीरज नहीं छोड़ना चाहिए और विपत्ति से पार पाने का उपाय धीरजता से करते रहना चाहिए। क्योंकि धीरज रखकर उपाय करते रहने से कदाचित बचाव का कोई मार्ग निकल ही आता है। जैसे समुद्र में जहाज के टूट जाने पर अथाह समुद्र में गिर कर भी जहाजी व्यापारी समुद्र में हाथ पैर मारकर, किसी काष्ठ के टुकड़े का सहारा पाकर पार लग ही जाता है अथवा समुद्र में जब जहाज टूट जाता है तब यात्री हिम्मत न हारकर दूसरा जहाज लेकर

व्यापार करने पुनः जाता है।

'टिट्टिभ-समुद्र कथा'[३५] के माध्यम से शिक्षा दी गई है कि शत्रु के बल को बिना परखे जो उससे बैर करता है तथा जो अहङ्कारवश शत्रु को तुच्छ समझता है वह टिटहरी के समान पराभव को प्राप्त होता है।

पञ्चतन्त्र के समान ही हितोपदेश भी नीति युक्त कथाओं का संग्रह ग्रन्थ है। जिसके रचनाकार श्री नारायण पण्डित हैं। इस ग्रन्थ में कामन्दकीय नीतिशास्त्र, महाभारत और पञ्चतन्त्र आदि ग्रन्थों से कथाएँ संग्रहीत की गई है। इन कथाओं का विभाजन चार भागों में किया गया है जिन्हें मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि नामक चार प्रकरणों में विभाजित किया गया है। विद्वानों के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् ७०० के लगभग की गई होगी। हितोपदेश की रचना पाटलिपुत्र के राजा सुदर्शन के पुत्रों को नीतिशास्त्र की शिक्षा देने के लिए ही की गई। पञ्चतन्त्र की तरह ही इसमें भी पशु-पक्षियों को कथा का माध्यम बनाया गया है। हितोपदेश की अधिकांश कथाओं का स्रोत पञ्चतन्त्र ही है। इन कथाओं के मध्य में वर्णित श्लोकों में विद्या की प्रशंसा, सत्सङ्ग की प्रशंसा, लोभ की निन्दा, यश की मुख्यता, समान के साथ समान की प्रीति, अनेक मित्र करना, अपरिचित को आश्रय न देना, अतिथि सत्कार, व्यवहार से मित्र और शत्रु का ज्ञान, विश्वासघात, दुर्जन की निन्दा, मनस्वी की प्रशंसा, धर्म, दान, उद्योग, सुख-दुःख आदि से सम्बन्धित विषय, गुण की प्रशंसा, कर्तव्यता, सदुपदेश की प्रशंसा, मन्त्र का गुप्त रखा जाना, कार्य साधन की प्रशंसा धर्म की दृढ़ता सत्य की प्रशंसा आदि विभिन्न विषयों के माध्यम से शिक्षाएँ प्रदान की गई हैं।

मित्रलाभ की प्रमुख कथाएँ[३६] व उनसे प्राप्त प्रमुख शिक्षाएँ-

१. चित्रग्रीव व हिरण्यक की कथा- छोटे या बड़े बहुत से मित्र करने चाहिए।

२. वृद्ध व्याघ्र लोभी पथिक कथा- लोभ नहीं करना चाहिए।

३. गिद्ध और बिलाव की कथा- अज्ञात कुल शील वाले को आश्रय नहीं देना चाहिए।

४. हाथी और शृङ्गाल की कथा- जो कार्य उपाय से सम्पन्न हो सकता है वह पराक्रम से नहीं साथ ही धूर्त व्यक्ति का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

'सुहृद भेद'[३७] नामक द्वितीय भाग में शत्रु के मित्रों में भेदनीति से फूट उत्पन्न करके अपने कार्य सिद्ध करने के उपाय बताये गये हैं। इसकी प्रमुख शिक्षाएँ हैं-

१. अकरणीय कार्यों को करने का प्रयास नहीं करना चाहिए- किलोत्पाटी वानर कथा।

२. दूसरे व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश नहीं करना चाहिए- कुत्ते और गधे की कथा।

३. जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है- सिंह-शशक कथा।

४. कभी भी किसी को छोटा और कमजोर नहीं समझना चाहिए- समुद्र और टिटिहरी दम्पती की कथा।

'हितोपदेश के तृतीय भाग विग्रह'[३८] में शत्रु पक्ष या विरोधियों में फूट डालने की शिक्षा दी गई

है। राजनीति के क्षेत्र में यह महत्त्वपूर्ण नीति है अपने साम्राज्य विस्तार व सुरक्षा दोनों ही दृष्टियों से यह नीति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस भाग की महत्त्वपूर्ण शिक्षाएं इस प्रकार हैं–

१. राजा के लिए अपने दूरदर्शी और स्वामी भक्त मन्त्री की सलाह महत्त्वपूर्ण होती है– हिरण्यगर्भ राजहंस और चित्रवर्ण मयूर की कथा।

२. मूर्खों को उपदेश नहीं देना चाहिए– बन्दरों और पक्षियों की कथा।

३. बड़ों के नाम से ही कार्यसिद्ध होने की शिक्षा– खरगोश और हाथियों के राजा की कथा।

४. दुष्ट संग का बुरा परिणाम– राजहंस कौआ और यात्री की कथा तथा कौए और बत्तख की कथा।

५. जाति द्वेष के गंभीर परिणाम– नीलवर्ण शृङ्गाल की कथा।

'हितोपदेश के चतुर्थ भाग में सन्धि'[३९] के विभिन्न प्रकारों, उनकी आवश्यकताओं तथा योग्य मन्त्रियों के परामर्श के लाभ का वर्णन है। यह प्रकरण छोटी छोटी कहानियों और विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से न केवल पाठकों का मनोरंजन करता है, अपितु राजनीति और लोक व्यवहार की जानकारी भी देता है। इसके अन्तर्गत हंस और कछुए की कथा के माध्यम से वाणी पर संयम की शिक्षा मिलती है। भविष्य की चिन्ता करते हुए ही कार्य करना चाहिए यह शिक्षा तीन मछलियों की कथा के माध्यम से प्राप्त होती है। बगुला, साँप व नेवले की कथा के माध्यम से शिक्षा दी गई है कि योजना बनाते समय उसके हानि पक्ष को भी अवश्य सामने रखना चाहिए। ब्राह्मण व कुम्हार की कथा से झूठे सुख की कल्पना नहीं करने की शिक्षा प्राप्त होती है। सुन्द व उपसुन्द की कथा सीख देती है कि युद्ध में दोनों पक्षों का विनाश भी सम्भव है अतः युद्ध को टालना चाहिए। ब्राह्मण एवं तीन धूर्तों की कथा से धूर्तों को सत्यवादी नहीं समझने की शिक्षा प्राप्त होती है। सज्जनों की बुद्धि भी दुष्टों के परामर्श से मलिन हो जाती है। यह शिक्षा सिंह और उसके तीन सेवकों की कथा के माध्यम से दी गई है तथा किसी विषय के तत्त्व को समझे बिना क्रोध नहीं करना चाहिए यह शिक्षा ब्राह्मण व नेवले की कथा के माध्यम से दी गई है।

इस प्रकार संस्कृत कथा साहित्य में कथाओं का अपार संसार है तथा इसमें सभी प्रकार कि शिक्षा देने की सामर्थ्य है।

सन्दर्भ

१. NEP २०२०, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय भारत सरकार, बिन्दु संख्या ४.६

२. वही, ४.१२

३. वही, ४.१७

४. श्री विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण, पं. हरेकान्त मिश्र (इन्दुश्री व्याख्या), चौखम्भा पब्लिशर्स वाराणसी, प्रथम संस्करण २०१७, पृष्ठ ७४०

५. महाकवि बाणभट्ट, कादम्बरी कथामुखम्, डॉ. उमाकान्त चतुर्वेदी (शशिधर प्रभा व्याख्या), हंसा प्रकाशन, संस्करण २०२४, पृष्ठ ७३

६. वही, पृष्ठ ७४
७. कठोपनिषद्, १.३.३
८. वही, १.३.४
९. महाभारत, ६.२५-४२
१०. कठोपनिषद्, १.१.१
११. पातञ्जलयोगदर्शनम्, १.२७
१२. ऋग्वेद, १०.९५
१३. वही, १०.१०
१४. वही, १०.१०८
१५. वही, ३.३३
१६. वेदाध्ययन पुस्तक २, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, पृ. १४८
१७. ऋग्वेद, १०.३४.१३
१८. वेदाध्ययन पुस्तक १, माध्यमिक पाठ्यक्रम, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, उत्तर-प्रदेश, डॉ. दिलीप पण्डा व स्वामी वेदतत्त्वानन्द (सम्पा.), पृष्ठ ९४
१९. कपिलदेव द्विवेदी, संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, रामनारायणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद, संस्करण : २००९, पृष्ठ ५७२
२०. वही, पृ. ५७२
२१. रामायण, १.२.३७
२२. पतञ्जलि, व्याकरण महाभाष्यम्, पश्पशाह्निकम्, डॉ.रमाकान्त पाण्डेय (प्रदीप भाषानुवाद), जगदीश संस्कृत पुस्तकालय जयपुर, संस्करण : २०१६, पृष्ठ १४
२३. कपिलदेव द्विवेदी, संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, रामनारायणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद, संस्करण : २००९, पृष्ठ ५८०
२४. विष्णु शर्मा, पञ्चतन्त्रम्, प्रो. बालशास्त्री (सम्पादक), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण : २०१६, पृ. ७६१
२५. वही, पृ. २४
२६. वही, पृ. २८
२७. वही, पृ. ७८
२८. श्री नारायण पण्डित, हितोपदेश, प्रो. बालशास्त्री (सम्पा.),चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृ. २०२
२९. विष्णु शर्मा, पञ्चतन्त्रम्, प्रो. बालशास्त्री (सम्पादक), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण : २०१६, पृ. २०३
३०. वही, पृ. २१५
३१. वही, पृ. २१५
३२. वही, पृ. २४६
३३. वही, पृ. ३००

३४. वही, पृ. ३०१
३५. वही, पृ. २९६
३६. श्री नारायण पण्डित, हितोपदेश, प्रो.बालशास्त्री (सम्पा.), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृ. १–१४१
३७. वही, पृ. १६७–२४४
३८. वही, पृ. २७०–३४१
३९. वही, पृ. ३६९–४३१

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

विकसित भारत के निर्माण में संस्कृत साहित्य की भूमिका

डॉ. शैलेन्द्र कुमार साहू*

सारांश– विकसित भारत की संकल्पना केवल आर्थिक विकास, तकनीकी प्रगति अथवा औद्योगीकरण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक समग्र दृष्टिकोण है जिसमें सांस्कृतिक पुनरुत्थान, नैतिक जागरूकता, आध्यात्मिक चेतना और भाषा–संरक्षण भी सम्मिलित हैं। भारत की परंपरा और सभ्यता के केंद्र में जो साहित्य जीवन का मार्गदर्शन करता आया है, वह है– संस्कृत साहित्य। यह शोधलेख भारत को एक विकसित राष्ट्र के रूप में स्थापित करने में संस्कृत साहित्य की विविध और बहु–आयामी भूमिका का गहन अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें शिक्षा, विज्ञान, पर्यावरण, नारी–सशक्तिकरण, नीति, कूटनीति, चिकित्सा, धर्म, वैश्विक दृष्टिकोण और डिजिटल युग में संस्कृत की उपयोगिता जैसे अनेक आयामों को समाहित किया गया है।

भूमिका– संस्कत भाषा न केवल भारत की प्राचीनतम भाषा है, बल्कि यह विश्व की उन कुछ भाषाओं में से एक है जिन्होंने मानव सभ्यता के ज्ञान, दर्शन, विज्ञान, साहित्य और आध्यात्मिक चेतना को दिशा प्रदान की। उपनिषदों में वर्णित '**अहं ब्रह्मास्मि**', '**तत्त्वमसि**' जैसे महावाक्य केवल आध्यात्मिक कथन नहीं, अपितु आत्मविश्वास, आत्मबोध और आत्मनिर्भरता की प्रेरणा है। भगवद्गीता का निष्काम कर्मयोग आधुनिक कार्य–संस्कृति में नैतिक कार्य–शक्ति का संचार करता है। नीतिशास्त्र और धर्मग्रंथ सामाजिक समरसता, करुणा, सहिष्णुता और कर्तव्यबोध का भाव उत्पन्न करते हैं।

संस्कृत साहित्य का प्रभाव केवल भारतीय उपमहाद्वीप तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह विश्वव्यापी बौद्धिक, दार्शनिक, और सांस्कृतिक चेतना को भी प्रभावित करता रहा है। संस्कृत साहित्य के उपनिषद्, भगवद्गीता, वेदांत, योगसूत्र, सांख्यदर्शन आदि ग्रंथों ने पश्चिमी दर्शन पर गहरा प्रभाव डाला है। जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर, नीत्शे और कार्ल युंग ने उपनिषद् और वेदांत से प्रेरणा ली। भगवद्गीता के नैतिक संघर्ष और आत्मबोध के सिद्धांतों का विश्व में व्यापक अनुवाद और अध्ययन हुआ है।

संस्कृत साहित्य के वैज्ञानिक ग्रंथों का अनुवाद और उपयोग यूरोपीय विज्ञान के विकास में हुआ। आर्यभट्टीय, सूर्यसिद्धांत, ब्रह्मस्फुटसिद्धांत, लीलावती जैसे ग्रंथों में गणित, ज्योतिष और खगोलशास्त्र की उन्नत अवधारणाएँ दी गयी हैं।

* सहायक आचार्य, साहित्य विभाग, सं.वि.ध.वि. संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मुख्य प्रतिपाद्य– संस्कृत साहित्य शिक्षा को आत्मविकास और लोककल्याण का माध्यम मानता है। **'सा विद्या या विमुक्तये'** का भाव बताता है कि विद्या वह है जो व्यक्ति को बंधनों से मुक्त करे। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में नैतिकता, आत्मबोध और समाजोपयोगिता का पुनः समावेश संस्कृत साहित्य के माध्यम से संभव है। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति २०२० में भारतीय भाषाओं और ज्ञान परंपराओं के समावेश से भारत की मौलिक पहचान को सुदृढ़ किया जा सकता है।

इस्लामी स्वर्णयुग के दौरान इन ग्रंथों का अरबी और फिर लैटिन में अनुवाद हुआ, जिससे वे यूरोप पहुँचे। ब्रह्मगुप्त द्वारा प्रतिपादित 'शून्य' (०) की अवधारणा ने वैश्विक गणित में मूलभूत परिवर्तन किया।

पंतजलि के योगसूत्र और हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रंथ आज विश्वभर में योग अध्ययन के मानक बन चुके हैं। चरक संहिता और सुश्रुत संहिता के आधार पर आयुर्वेद आज WHO द्वारा भी मान्यता प्राप्त चिकित्सा पद्धति बन चुका है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा २१ जून को अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस घोषित किया जाना इसका प्रमाण है। हार्वर्ड, ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, कोलंबिया, हीडलबर्ग, टोक्यो, आदि विश्वविख्यात विश्वविद्यालयों में संस्कृत विभाग हैं।

संस्कृत साहित्य के शास्त्रीय ग्रंथों पर Ph.d., Post-Doc, Critical Editions जैसे गंभीर शोध होते हैं। पश्चिम में Max Muller, Arthur Macdonell Sheldon Pollock, Frits Staal जैसे विद्वानों ने संस्कृत साहित्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। संस्कृत की संरचना अत्यंत वैज्ञानिक और व्याकरणिक दृष्टि से सटीक है। १९८५ में NASA के वैज्ञानिकों ने संस्कृत को "Most suitable Language for Artificial Intelligence" कहा। संस्कृत के Paninian Grammar ने Computational Linguistics को नई दिशा दी।

संस्कृत के महाकाव्य रामायण और महाभारत का अनुवाद विश्व की ४०+ भाषाओं में हुआ है। कंबोडिया, इंडोनेशिया, थाईलैंड, नेपाल, श्रीलंका जैसे देशों में संस्कृत परंपरा की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। इंडोनेशिया जैसे मुस्लिम बहुल देश में भी रामायण पर आधारित नृत्य–नाटकों का आयोजन होता है। २०१४ में संयुक्त राष्ट्र महासभा (UNGA) में भारत के प्रधानमंत्री द्वारा संस्कृत श्लोकों का उद्धरण दिया गया। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर जब भारत अपने विचार रखता है, तो संस्कृत श्लोक **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** जैसे उद्घोष शांति और मानवता का संदेश देते हैं।

प्राचीन भारत की गौरवशाली उपलब्धियाँ

(क) शैक्षणिक और बौद्धिक समृद्धि– तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों में विश्वभर के छात्र आते थे। पाणिनि का 'अष्टाध्यायी', कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', चरक और सुश्रुत का चिकित्साशास्त्र आज भी विश्वभर में मान्यता प्राप्त है। गणित, खगोलशास्त्र, रसायन, धातु–विज्ञान में भारत अग्रणी राज्य था।

(ख) सामाजिक संरचना और नैतिक मूल्य– परिवार केंद्रित समाज था जहाँ संबंधों में

स्नेह, कर्तव्य और त्याग प्रमुख थे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चतुष्पुरुषार्थ व्यवस्था ने जीवन को संतुलित कर रखा था।

(ग) आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था– ग्राम आधारित स्वावलंबी अर्थव्यवस्था कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और हस्तशिल्प में समृद्धि थी। भारत विश्व व्यापार का केंद्र था।

(घ) सांस्कृतिक एकता– विविध भाषाओं, संस्कृतियों और सम्प्रदायों के बावजूद धर्म, अध्यात्म और सनातन जीवन-मूल्यों ने भारत को एक सूत्र में बाँधे रखा।

२. नवीन भारत की वास्तविकताएँ

(क) औपनिवेशिक प्रभाव के दुष्परिणाम– २०० वर्षों की ब्रिटिश गुलामी ने भारत की शिक्षा प्रणाली, स्वदेशी उद्योग और सांस्कृतिक आत्मगौरव को तोड़ दिया। मैकाले की शिक्षा प्रणाली ने भारतीय युवाओं को अपनी परंपरा से काटकर उन्हें केवल नौकरी-पेशा वाला बना दिया।

(ख) आत्मविस्मृति और अंधानुकरण– स्वतंत्रता के बाद भी भारतीय भाषा, संस्कृति और ज्ञान परंपरा को हाशिए पर रखा गया। पश्चिमी जीवनशैली, उपभोक्तावाद, व्यक्तिगत स्वार्थ को आधुनिकता समझा जाने लगा।

(ग) नैतिक और सामाजिक क्षरण– आज शिक्षा का उद्देश्य केवल डिग्री और नौकरी तक सीमित रह गया है। नैतिकता, सदाचार, सहिष्णुता और समाजसेवा की भावना लुप्त होती जा रही है। पारिवारिक संस्था में विघटन, वृद्धों की उपेक्षा, युवाओं में दिशाहीनता यह सब समाज के क्षरण के संकेत हैं।

(घ) आर्थिक और औद्योगिक निर्भरता– आज भी भारत तकनीकी, औषधीय, औद्योगिक उपकरणों के लिए अन्य देशों पर निर्भर है। कृषि संकट, बेरोजगारी, महँगाई और भ्रष्टाचार देश की प्रगति में बाधा बने हुए हैं।

३. क्या वास्तव में भारत पिछड़ा है? द्वैत दृष्टिकोण– यह मानना अनुचित होगा कि नवीन भारत हर दृष्टि से पिछड़ा है। कई क्षेत्रों में भारत ने अभूतपूर्व प्रगति की है।

(क) विज्ञान और तकनीक

- ISRO ने अंतरिक्ष विज्ञान में भारत को विश्व पटल पर अग्रणी बनाया है।
- AI, डिजिटल इंडिया, स्टार्टअप में वैश्विक पहचान मिली है।

(ख) लोकतंत्र और सामाजिक न्याय– संविधान आधारित लोकतंत्र, स्त्री-सशक्तिकरण, आरक्षण व्यवस्था, सूचना का अधिकार आदि ने सामाजिक न्याय को आगे बढ़ाया है।

(ग) वैश्विक मंच पर उपस्थिति– भारत आज G20, UNO, BRICS जैसे मंचों पर सक्रिय भूमिका निभा रहा है। योग, आयुर्वेद, में भारतीय संस्कृति को वैश्विक मान्यता मिली है।

परन्तु फिर भी, मूल प्रश्न यह बना रहता है कि क्या आधुनिक विकास मूल्यबोध और आत्म संस्कार के साथ हो रहा है? यदि नहीं, तो यह 'विकास' अधूरा है। विकसित भारत की संकल्पना

केवल आर्थिक उन्नति या तकनीकी विकास तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक विचारधारा है, जिसमें सांस्कृतिक पुनरुत्थान, नैतिक उत्थान और आत्मिक चेतना का समावेश आवश्यक है। भारत की परंपरा और सांस्कृतिक चेतना का मूल स्रोत संस्कृत साहित्य ही इस विकास यात्रा में दिशा-निर्देशक बन सकता है।[१]

भारत की आत्मा उसकी संस्कृति, भाषा और साहित्य में निहित है। संस्कृत न केवल एक भाषा है, अपितु यह भारत की दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं नैतिक चेतना की संवाहिका है।[२] जब भारत 'विकसित राष्ट्र' बनने की दिशा में आगे बढ़ रहा है, तब संस्कृत साहित्य की उपादेयता और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

वैश्वीकरण के इस युग में, भारत यदि अपनी अस्मिता बनाए रखना चाहता है, तो उसे अपने प्राचीन ज्ञान-स्रोतों का पुनः अवलोकन करना होगा। संस्कृत साहित्य आधुनिक समस्याओं के समाधान हेतु नई दृष्टि प्रदान कर सकता है।[३]

भारत जिसे प्राचीन काल से ही 'विश्वगुरु' की संज्ञा दी जाती रही है, आज २१वीं शताब्दी में एक बार फिर वैश्विक मंच पर अग्रणी भूमिका निभाने की दिशा में बढ़ रहा है। 'विकसित भारत' केवल आर्थिक प्रगति या तकनीकी श्रेष्ठता की परिभाषा तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक समग्र अवधारणा है जिसमें नागरिकों का जीवन स्तर, शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय, पर्यावरण, संस्कृति और आत्मनिर्भरता जैसे पहलू सम्मिलित हैं।

विकसित भारत एक ऐसा भारत है। जहाँ हर नागरिक को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा एवं न्याय सुलभ हो। जहाँ आधारभूत ढाँचा (सड़क, बिजली, जल, इंटरनेट) मजबूत हो। जहाँ देश की नीति निर्माण में पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और जन-हित सर्वोपरि हो। जहाँ नारी, ग्रामीण समाज, वंचित वर्ग और युवाओं को सशक्त बनाया जाए। विकसित भारत का विचार महात्मा गांधी के 'ग्राम स्वराज' से लेकर डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के 'विकसित भारत २०२०' तक विस्तृत रहा है।

प्राचीन भारत विज्ञान, गणित, दर्शन, आयुर्वेद, खगोलशास्त्र, वास्तु आदि क्षेत्रों में विश्व का अग्रणी केंद्र था। नालंदा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों ने वैश्विक शिक्षा को दिशा दी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कारण भारत के संसाधनों और आत्मविश्वास को गहरा आघात पहुँचा, किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, विशेषतः १९९१ की आर्थिक उदारीकरण नीति के बाद भारत ने तेज़ी से प्रगति की है। भारत आज विश्व की पाँचवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन चुका है। स्टार्टअप संस्कृति, 'मेक इन इंडिया', 'डिजिटल इंडिया', 'आत्मनिर्भर भारत' जैसे अभियानों ने वैश्विक बाज़ार में भारत की प्रतिस्पर्धा को सशक्त किया है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या केवल GDP में वृद्धि ही विकास है?

उत्तर है- नहीं। विकास का उद्देश्य समावेशी और संतुलित होना चाहिए, जिससे गरीब, महिला, किसान, युवा, और दिव्यांग जैसे वर्गों को भी समान अवसर मिलें।

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति (२०२०) ने प्राचीन भारतीय ज्ञान प्रणाली, मातृभाषा आधारित शिक्षा और स्कूली संरचना में लचीलापन लाकर भविष्य के भारत को सशक्त आधार दिया है। आईआईटी, आईआईएम, इसरो, डीआरडीओ जैसे संस्थान नवाचार और शोध के क्षेत्र में वैश्विक मानचित्र पर भारत की पहचान बना रहे हैं।

विकसित भारत की नींव सामाजिक समरसता पर टिकती है–

- जातीय, धार्मिक, लैंगिक भेदभाव का अंत।
- समान नागरिक संहिता (Unifrom Civil Code)।
- सस्ती और शीघ्र न्याय प्रणाली।
- मानवाधिकार और नागरिक न्याय प्रणाली में सुधार (Fast Track Court, E-Courts Etc.) तथा पुलिस सुधार और लोक प्रशासन में पारदर्शिता जैसे प्रयास आवश्यक हैं।

भारत आज ISRO के माध्यम से मंगल, चंद्रमा और सूर्य की खोजों में अग्रणी बन चुका है। 'चंद्रयान–३', 'आदित्य L१' जैसे मिशनों ने भारत को वैज्ञानिक शक्ति के रूप में स्थापित किया है।

'डिजिटल इंडिया' कार्यक्रम के अंतर्गत

- आधार, UPI, डिजिलॉकर जैसे प्लेटफ़ॉर्म ने नागरिक सेवाओं को सरल बनाना।
- ग्रामीण क्षेत्रों तक इंटरनेट पहुँचाना।
- ऑनलाइन शिक्षा, टेलीमेडिसिन, डिजिटल बैंकिंग में क्रांति।

विकसित भारत को पर्यावरणीय सन्तुलन के साथ आगे बढ़ना होगा

- नवीकरणीय ऊर्जा (सौर, पवन)।
- सिंगल यूज़ प्लास्टिक पर प्रतिबंध।
- लाइफ मिशन' (Life- Lifestyle for Environment)।
- वृक्षारोपण, जल–संरक्षण, नदी पुनर्जीवन अभियान।

भारत ने COP26 में २०७० तक Net Zero Carban Emission का लक्ष्य घोषित कर पर्यावरणीय उत्तरदायित्व को दर्शाया है।

विकसित भारत अपने सांस्कृतिक गौरव को विभिन्न प्राचीन और नवीन माध्यमों से पुनः प्रतिष्ठित कर रहा है।

- योग और आयुर्वेद की वैश्विक स्वीकृति।
- काशी, अयोध्या, पुरी जैसे तीर्थों का नव–निर्माण।
- अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर संस्कृत, हिन्दी और भारतीय चिंतन की उपस्थिति।

संस्कृत के महावाक्य जैसे– **'अहं ब्रह्मास्मि'** तथा **'तत्त्वमसि'** आत्मबोध और आत्मविश्वास का प्रेरणास्त्रोत हैं।[४] **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** और **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** जैसे वैदिक विचार

आज के विभाजित विश्व में सह-अस्तित्व का मार्ग दिखाते हैं। भगवद्गीता का निष्काम कर्मयोग आज की कार्य-संस्कृति में नैतिक विवेक का संचार करता है।[५] **'सा विद्या या विमुक्तये'** यह श्लोक स्पष्ट करता है कि वास्तविक शिक्षा वही है जो बंधनों से मुक्ति प्रदान करे।[६] नई शिक्षा नीति २०२० में भारतीय भाषाओं व परंपराओं के समावेश का प्रयास किया गया है।[७] गणित के क्षेत्र में आर्यभटीय, लीलावती जैसे ग्रंथों में जटिल गणनाओं का वर्णन है।[८] चिकित्सा के क्षेत्र में चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता में शारीरिक एवं शल्य चिकित्सा का वैज्ञानिक निरूपण मिलता है।[९] वेदों में गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी नारियों का वर्णन नारी गरिमा की प्राचीन मिसाल है। मनुस्मृति में स्पष्ट वर्णित है- **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**[१०]

चाणक्य का अर्थशास्त्र सुशासन, कूटनीति, कर-प्रणाली एवं न्याय व्यवस्था का अद्वितीय ग्रंथ है।[११] पंचतन्त्र जैसे नीतिग्रंथ आज भी प्रशासनिक प्रशिक्षण में उपयोगी हैं।[१२] वेदों में प्रकृति को सजीव सत्ता के रूप में देखा गया है- **'माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः'**[१३] यह विचार पर्यावरणीय चेतना का प्राचीन प्रतीक है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** यह विचार आज के विश्व संघर्षों में भारतीय चिंतन की सार्वभौमिकता को प्रकट करता है।[१४] योग, आयुर्वेद एवं संस्कृत श्लोकों की अंतर्राष्ट्रीय स्वीकृति भारत की सांस्कृतिक शक्ति को पुष्ट करती है।

इस प्रकार विकसित भारत एक आकांक्षा नहीं, बल्कि एक राष्ट्रीय संकल्प है। जिसमें प्रत्येक नागरिक का योगदान अनिवार्य है। यह केवल आर्थिक ताकत नहीं, बल्कि नैतिक, सांस्कृतिक और वैचारिक नेतृत्व का परिचायक होगा। यदि भारत को विश्वगुरु बनना है, तो उसे अपनी परंपरा को विज्ञान से जोड़ते हुए, तकनीकी, सामाजिक और आत्मिक दृष्टियों से समग्र विकास सुनिश्चित करना होगा। नवीन भारत को यदि वास्तव में प्रगतिशील और विश्वगुरु बनना है, तो उसे अपनी प्राचीन परंपरा, ज्ञान-विज्ञान और सांस्कृतिक चेतना से प्रेरणा लेकर एक भारतीय दृष्टिकोण से आधुनिकता की ओर बढ़ना होगा। प्राचीन भारत से नवीन भारत 'पीछे' इसलिए है; क्योंकि हमने अपने मूल को छोड़ दिया दिया था। हमें अपने अतीत को पहचानना होगा। अब समय है कि हम रूप और मूल दोनों का समन्वय करें, तभी सच्चे अर्थों में भारत पुनः 'विश्वगुरु' बन सकेगा।

भारत एक ऐसा राष्ट्र है जिसकी सभ्यता विश्व की प्राचीनतम और समृद्धतम सभ्यताओं में गिनी जाती है। जब विश्व के अन्य भाग अज्ञान और जड़ता के अंधकार में थे, तब भारत ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, संस्कृति, कला और आर्थिक समृद्धि का केंद्र था। वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल तक भारत ने विश्व को जो ज्ञान दिया, वह आज भी आधुनिक मानवता के लिए प्रेरणास्रोत है। परन्तु जब हम आज के भारत को देखते हैं, नवीन भारत के लिए एक बुनियादी प्रश्न उठता है कि क्या आज का भारत वास्तव में प्राचीन भारत की तुलना में अधिक विकसित है, या वह कुछ मूलभूत दृष्टियों से पीछे चला गया है? यह प्रश्न केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, शैक्षणिक और आर्थिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ

१. Sheldon Pollock - The Language of the Gods in the World of Men

२. Kapil Kapoor - Dimensions of Panini Grammar.

३. Swami Vivekananda - India: Its Mission and Future.

४. बृहदारण्यकोपनिषद्, १.४.१०

५. श्रीमद्भगवद्गीता, २.४७

६. मुण्डकोपनिषद्, १.१.४

७. भारत सरकार : राष्ट्रीय शिक्षा नीति २०२०

८. लीलावती : भास्कराचार्य।

९. चरक-संहिता, आयुर्वेद भारती, सुश्रुत संहिता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

१०. मनुस्मृति, ३.५६

११. अर्थशास्त्र : कौटिल्य।

१२. पंचतन्त्र : विष्णु शर्मा।

१३. अथर्ववेद, १२.१.१२

१४. महोपनिषद, ४.७१

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग का माहात्म्य

डॉ. दीप्ति वाजपेयी*

श्रीमद्भगवद्गीता देश और काल की सीमाओं से परे सम्पूर्ण मानवलोक के लिए प्रासंगिक है। यह ग्रंथ ज्ञानयोग, भक्तियोग, सन्यासयोग व कर्मयोग की संहिता मात्र नहीं है, अपितु श्रीमद्भगवद्गीता ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें सृष्टि के संपूर्ण आध्यात्मिक पक्षों के समावेश के साथ-साथ मनोविज्ञान और सम्यक् निर्देशन के माध्यम से भौतिक समस्याओं का भी निराकरण किया गया है। वेदों और उपनिषदों से लेकर शंकराचार्य तक के सभी मतों व मान्यताओं का सार इसमें समाहित है। इसमें संगृहीत सात सौ श्लोक सप्त महाद्वीपीय के समान विस्तृत और गहन है। गीता के ज्ञान भक्ति और कर्म की त्रिवेणी में उतरकर साधक के अज्ञान-अंधकार का नाश अवश्यंभावी है, किंतु सामान्य जन के लिए गीता में भक्तिमार्ग का सहज नवनीत प्रदान किया गया है, जिसके माध्यम से भक्त और ईश्वर का संबंध अटूट हो जाता है और भक्त अपनी समस्त इच्छाओं, शंकाओं और कमजोरियों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर स्वयं निश्चिंत भाव से अपने कल्याण का दायित्व ईश्वर पर सौंप देता है और ऐसे समर्पित भक्तों का योग और क्षेम (योगक्षेमं वहाम्यहम्) स्वयं ईश्वर वहन करते हैं।

भक्तियोग का अर्थ एवं विशेषताएँ– भक्ति प्रेम की पराकाष्ठा है, जो ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम भक्ति की श्रेणी में आता है। जब मनुष्य संसार के भौतिक पदार्थों से विरक्त होकर अनन्यभाव से ईश्वर की उपासना में रत रहता है, तो वह भक्ति कही जाती है।

भक्ति शब्द संस्कृत के 'भज् सेवायाम्' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ सेवा, अर्चना, पूजा, उपासना, संगतिकरण करना इत्यादि माना गया है। भक्ति भावना से परिपूर्ण साधक पूर्णरूपेण अपने आराध्य के भाव में भावित होकर समस्त प्रकार से तदनुरूप होने की अनुभूति करता है।

भक्तियोग के द्वारा जब भगवान् के प्रति भक्त पूर्णरूपेण समर्पित हो जाता है और स्वयं को ईश्वर के प्रति सौंप देता है, तो फिर उसके द्वारा किए गये समस्त कर्मों में कृतत्व भाव का अभाव हो जाता है, उस स्थिति में भक्त केवल निमित्त मात्र बनता है, यह भक्तियोग की सबसे बड़ी विशेषता है। गीता में भक्तियोग प्रकरण में श्रीकृष्ण अपने भक्त अर्जुन से कहते हैं कि यहाँ युद्ध भूमि में जितने भी

* प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कु. मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बादलपुर, गौतमबुद्धनगर

योद्धा हैं, वह मेरे द्वारा पहले से ही मारे जा चुके हैं, अतः कर्ताभाव से मुक्त होकर मेरे परायण होकर तुम इनको मारने में निमित्त मात्र बन जाओ- **'निमित्तमात्रं भव।'** (श्रीमद्भगवद्गीता,११.३३)

भक्तियोग का अधिकारी- समस्त प्राणी भगवान् के भक्ति के अधिकारी हैं। चाहे वह सज्जन हो अथवा दुर्जन परमात्मा का अंश होने के कारण समस्त प्राणियों का ईश्वर के साथ अखण्ड अटूट एवं नित्य सम्बन्ध है। किन्तु मनुष्य मोहवश इस अनित्य संसार से आसक्ति में बंध जाता है और अपने नित्य सम्बन्ध को अज्ञानता वश विस्मृत कर देता है, किन्तु ईश्वर की भक्ति माया ग्रस्त मानव के लिए भी सुलभ है। मोह से व्याप्त, संसार सागर में निमग्न व्यक्ति भी ईश्वर भक्ति के माध्यम से प्रारंभिक रूप में भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु तथा धीरे-धीरे सत्य की अनुभूति कर अपने यथार्थ स्वरूप का बोध कर सकता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ९.३०)

अर्थात् यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझे भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है।

निसंदेह ईश्वर भक्ति के माध्यम से वह दुराचारी मनुष्य में धीरे-धीरे सदाचरण की ओर प्रेरित होता है और ईश्वर प्रदत्त सद्बुद्धि के द्वारा सज्जनों की भाँति आचरण करता हुआ अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त कर लेता है। इस विषय में श्रीकृष्ण का कथन है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ९.३१)

अर्थात् हे कौन्तेय! वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत् शान्ति को प्राप्त होता है। तुम निश्चयपूर्वक सत्य जानो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार किसी भी प्रकार का मनुष्य भक्ति का अधिकारी है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ९.३२)

अर्थात् हे पृथानन्दन! जो भी पापयोनि वाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरणागत होकर निःसन्देह परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।

ईश्वर भक्ति में अपूर्व शक्ति है। वह दुराचारी को सदाचारी, दुर्जन को सज्जन, निकृष्ट को

उत्कृष्ट, मोह को विरक्ति में परिणित करने की सामर्थ्य वाली है और कोई भी मनुष्य भक्तिमार्ग को अपनाकर मुक्ति का अधिकारी बन सकता है।

भक्त के प्रकार- श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार भक्तों को चार श्रेणियों में बांटा गया है-

तुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ७.१६)

अर्थात् हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने वाले आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ऐसे चार प्रकार के लोग मुझे भजते हैं अर्थात् मेरे भक्त की श्रेणी में आते हैं।

आर्त भक्त- आर्तभाव से भगवान् का स्मरण करने वाले और संकट के समय उन्हें व्याकुलता के साथ पुकारने वाले और ईश्वर की शरण लेने वाले भक्त आर्त भक्त कहलाते हैं।

जिज्ञासु भक्त- ईश्वर, सत्य स्वरूप और अध्यात्म के विषय में जिज्ञासा रखने वाले तथा सत्य की खोज के लिए ईश्वर की भक्ति करने वाले मनुष्य जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं अर्थात् जो आत्मा और परमात्मा के अभेद सम्बन्ध के प्रति जिज्ञासु होते हैं। वह जिज्ञासु भक्त की श्रेणी में आते हैं।

अर्थार्थी भक्त- सांसारिकता में फंसे हुए माया में लिप्त व्यक्ति जब भौतिक सुख और सफलताओं के लिए ईश्वर को भजते हैं, तो वह अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं। अर्थात् धन दौलत, जमीन, वैभव, मान-सम्मान, सफलता, सुखों की इच्छा पूर्ति हेतु जब व्यक्ति ईश्वर की आराधना करता है, तो वह भक्त अर्थार्थी भक्त की श्रेणी में आता है।

ज्ञानी भक्त- यह भक्तों की सर्वश्रेष्ठ श्रेणी है। जो भक्त आत्म कल्याण और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मोक्ष की कामना से ईश्वर की उपासना करते हैं और अनन्यभाव से रात-दिन उनका स्मरण करते हैं, वह ज्ञानी भक्त कहलाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ७.१७)

अर्थात् उन चार भक्तों में मुझमें निरन्तर लगा हुआ, अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मुझको अत्यन्त प्रिय है।

श्रीकृष्ण के अनुसार भक्तों की विभिन्न श्रेणियों में अलग-अलग विशेषताओं के कारण भक्तों को आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चार रूपों में बांटा जा सकता है अर्थात् अर्थ की इच्छा से, संकट निवारण की इच्छा से, जिज्ञासाओं के शमन हेतु तथा मुक्ति हेतु इन चार कारणों से मनुष्य ईश्वर की भक्ति करता है। जो भक्त ईश्वर में आत्मसात होने की अभिलाषा रखता है और अनन्य भाव से निरंतर समर्पित होकर ईश्वर की भक्ति करता है। वह ज्ञानी अथवा प्रेमी भक्त कहलाता है।

श्रीकृष्ण के अनुसार अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है। ऐसे ज्ञानी भक्तों को मैं प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यंत प्रिय हैं।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ७.१८)

अर्थात् ये सभी भक्त उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धि वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गति स्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।

तत्त्वज्ञान में सूक्ष्म रूप से अहम भाव रहता है, किन्तु भक्तों में अहम् का सर्वथा नाश हो जाता है इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- '**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**'

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग का माहात्म्य- गीता के विभिन्न अध्यायों में भक्त और भक्ति की महत्ता वर्णित की गयी है। भक्ति ईश्वर से सहज तादात्म्य स्थापित करने, अध्यात्म की ओर उन्मुख होने एवं मुक्ति की दिशा में अग्रसर होने का सर्वाधिक सरल माध्यम है। गीतोक्त भक्तों के विभिन्न प्रकारों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भक्ति चाहे सकाम अर्थात् लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए की जाए तब भी वह फल देती ही है। इस प्रकार की भक्ति निम्न श्रेणी की भक्ति में अवश्य आती है, किन्तु यह भी उच्च कोटि की निष्काम भक्ति या अलौकिकता की ओर अग्रसर होने के लिए सोपान का कार्य करती है। सकाम भक्ति ईश्वर के प्रति भक्तों की आस्था को सुदृढ़ बनाने का कार्य करती है और इस आस्था और विश्वास के कारण भक्त अपनी सकामता का परित्याग कर धीरे-धीरे निष्काम भक्ति की ओर प्रेरित होने लगता है। भक्ति समर्पण का भाव लाती है और दीर्घ अभ्यास के बाद भक्त अपने सारे मनोभाव, हित-अहित, लाभ-हानि, सफलता-असफलता आदि को ईश्वर के प्रति समर्पित कर स्वयं भक्ति में लीन रहता है। इसीलिए भगवान् को भक्त अत्यधिक प्रिय होते हैं और उनका योग स्वयं ईश्वर वहन करते हैं-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ९.२२)

अर्थात् अनन्य चित्त से (निष्कामभाव से केवल) मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य-निरंतर मेरा चिंतन करने वाले भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।

भावार्थ यह है कि जो मनुष्य एक मात्र ईश्वर को लक्ष्य मानकर अनन्य-भाव से उनका स्मरण करते हुए कर्तव्य-कर्म द्वारा पूजा करते हैं, जो सदैव निरन्तर प्रभु भक्ति में लीन रहते हैं। उन मनुष्यों के हित-अहित का उत्तरदायित्व ईश्वर के द्वारा निभाया जाता है। उसे स्वयं के बारे में विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। उसके कल्याण का मार्ग स्वयं भगवान् के द्वारा विनिर्मित किया

जाता है।

श्रेष्ठमार्ग– भक्तिमार्ग को गीता में श्रेष्ठ माना गया है। ईश्वर में तल्लीन अन्तःकरण वाला, श्रद्धावान् भक्त संपूर्ण योगियों में श्रेष्ठ माना जाता है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, .४७)

अर्थात् सम्पूर्ण योगियों में जो भी श्रद्धावान् योगी मुझ में लगे हुए अन्तरात्मा से मुझ को निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है। भक्तिमार्ग, कर्म और ज्ञानमार्ग अधिक सरस, सरल और समर्पित मार्ग माना जाता है। निरंतर समर्पणभाव के द्वारा ईश्वर में रत भक्त को श्रीकृष्ण के द्वारा श्रेष्ठ माना गया है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, १२.२)

अर्थात् मेरे में मन को लगाकर नित्य निरन्तर मेरे परायण होकर जो भक्त परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।

सुगम और सरल मार्ग– भक्ति का मार्ग अत्यधिक सुगम और सरल है। इसके लिए किसी भी प्रकार के संसाधन अथवा योग्यता की अपेक्षा नहीं है। भक्तों के द्वारा अनन्यभाव से किया गया समर्पण ही ईश्वर के लिए पर्याप्त है। भक्त अगर भावपूर्ण होकर पत्र, पुष्प, जल, फल इत्यादि जो कुछ भी ईश्वर को अर्पित करते हैं, उसे प्रभु सहजभाव से स्वीकार कर लेते हैं। अगर किसी भक्त के पास यह सब नहीं भी होता तो वह अपनी मानसिक भक्ति से ही समर्पित होकर संपूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाता है तथा ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ९.२६)

अर्थात् जो कोई भी भक्त मेरे लिए पत्र, पुष्प, फल, जल आदि भक्ति से अर्पण करता है, उस शुद्धमन भक्त का वह भक्तिपूर्वक अर्पण किया हुआ पत्र–पुष्पादि मैं भोगता हूँ अर्थात् स्वीकार करता हूँ।

इस प्रकार ईश्वर को भक्तिपूर्वक सब समर्पित कर भक्त स्वयं ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ९.२८)

अर्थात् इस प्रकार मुझे अर्पण करने से जिनसे कर्मबन्धन होता है, ऐसे शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मों के फलों से तू मुक्त हो जायगा। ऐसे अपने सहित सब कुछ मेरे अर्पण करने वाला और सब से मुक्त हुआ तू मेरे को प्राप्त हो जायगा।

शीघ्र फल प्राप्ति– प्रभु भक्ति में लगे हुए एकाग्रचित्त भक्तों का उद्धार ईश्वर के द्वारा शीघ्र कर दिया जाता है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।१२.७।।

अर्थात्। हे पार्थ! मेरे में आविष्ट चित्त वाले उन भक्तों का मैं मृत्युरूप संसार समुद्र से शीघ ही उद्धार करने वाला बन जाता हूँ। जिनका चित्त मुझमें ही स्थिर हुआ है ऐसे भक्तों का मैं उद्धार कर उनकी मुक्ति का मार्ग शीघ्र प्रशस्त कर देता हूँ।

पाप कर्मों से मुक्ति– यदि कोई भक्त प्रायश्चित भाव से ईश्वर की शरण में आकर अपने कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है, तो प्रभु अपने शरणागत भक्तों के द्वारा किए गये पूर्व पाप कर्मों का शीघ्र क्षय देते हैं।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, १८.६६)

अथात् हे अर्जुन! सब धर्मों का परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा? तुम शोक मत करो। अर्थात् ज्ञान और कर्म में यदि कोई भी मार्ग तुम्हारे द्वारा सुलभ ना हो तो तुम समस्त अन्य मार्गों को त्यागकर भक्तिमार्ग का अवलंबन कर प्रभु की शरण में आकर ईश भक्ति में लीन हो जाओ, इस समर्पित भक्ति के माध्यम से तुम्हारे समस्त पाप कर्मों का क्षय हो जाएगा इसमें कोई संदेह नहीं है।

संतुष्टि और संतोष– ईश्वर को सदैव अपने मन में रमाने वाला भक्त संतोषी और संतुष्टि के भावों से परिपूर्ण रहता है; क्योंकि उसे यह दृढ़ विश्वास होता है कि ईश्वर भक्ति के द्वारा उसका कभी अहित नहीं होगा और भौतिक आकांक्षाओं से रहित होकर उसे ईश्वर भक्ति से ही संतुष्टि मिलती है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, १०.९)

अर्थात् मुझमें ही चित्त को स्थिर करने वाले और मुझमें ही प्राणों (इन्द्रियों) को अर्पित करने वाले भक्तजन, सदैव परस्पर मेरा बोध कराते हुए, मेरे ही विषय में कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और रमते हैं। ऐसे भक्तगण ईश्वर को अत्यधिक प्रिय होते हैं।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, १२.१४)

अर्थात् जो संयतात्मा, दृढ़ निश्चयी योगी सदा सन्तुष्ट है, जो अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण किये हुए है, जो ऐसा मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

ईश्वर के ऐसे भक्तों को शीघ्र ही परम शांति की प्राप्ति होती है।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ६.१५)

अर्थात् इस प्रकार सदा मन को स्थिर करने का प्रयास करता हुआ, संयमित मन का योगी मुझमें स्थित परम निर्वाण (मोक्ष) स्वरूप शांति को प्राप्त होता है।

ज्ञान एवं सत्य की प्राप्ति– श्रद्धाभाव से निरंतर प्रभु का स्मरण करने वाले भक्तों को भगवान् स्वयं अज्ञान से मुक्त कर ज्ञान के प्रकाश से आप्लावित करते हैं। अर्थात् उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए मैं उनके अन्तःकरण में स्थित होकर अज्ञानजनित अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञान के दीपक द्वारा नष्ट करता हूँ।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, १०.११)

मुक्ति और आनंद की अनुभूति– निरंतर शांति से ईश्वर की भक्ति करने वाले मनुष्य का अंतःकरण प्रसन्न, निर्मल एवं शांत हो जाता है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ६.१४)

अर्थात् जिसका अन्तःकरण शान्त है, जो भय रहित है और जो ब्रह्मचारी व्रत में स्थित है, ऐसा सावधान योगी मन का संयम करके मेरे में चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे। भक्तों के द्वारा ऐसा करने पर ईश्वर उनसे प्रसन्न होकर उनके योगक्षेम का वहन करते हुए उन्हें सभी प्रकार के संशय एवं अज्ञान से मुक्त कर आनन्द की अनुभूति कराते हैं। गीता में अर्जुन स्वयं श्रीकृष्ण के प्रति संतुष्ट मन वाले होकर कहते हैं कि आपकी कृपा से मेरे समस्त मोह और संशय का नाश हो गया है।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, १८.७३)

अर्थात् हे अच्युत! आपके कृपाप्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति (ज्ञान) प्राप्त हो गयी है, मैं संशय रहित हो गया हूँ। अब मैं आपके वचन (आज्ञा) का पालन करूँगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। श्रद्धा भावना के साथ निरंतर ईश्वर की भक्ति करने वाले मनुष्य के समस्त कृत कर्मों का क्षय होकर, ईश्वर कृपा से मुक्ति की प्राप्ति होती है। भक्ति सकाम हो अथवा निष्काम दोनों का ही अपना-अपना महत्त्व है। सकाम भक्ति जहाँ एक ओर ईश्वर के प्रति लगनशीलता, श्रद्धा और विश्वास की भावना को दृढ़ीभूत करती है, वहीं दूसरी ओर धीरे-धीरे भक्तों को निष्काम भक्ति की ओर प्रेरित करती है। निष्काम भक्ति, भक्तियोग की पराकाष्ठा है। इस अवस्था को प्राप्त कर ने के उपरांत भक्त का ईश्वर के प्रति समर्पण अपने चरमोत्कर्ष पर होता है और यही अवस्था उसके लिए मोक्ष का आधार बनती है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग, जिसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग भी कहा गया है, मनुष्य इन तीनों में से किसी का भी आश्रय लेकर सत्य की अनुभूति कर मुक्ति की अवस्था को प्राप्त कर सकता है, किन्तु भक्तिमार्ग सांसारिक मनुष्यों के लिए सर्वाधिक सरल और सुगम है तथा निःसंदेह सामान्य मनुष्यों के लिए इसकी श्रेष्ठता सिद्ध है।

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- गीता, जयदयाल गोयंदका, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- श्रीमद्भगवद्गीता (भाष्य), रामानुजाचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्य सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।
- वेदांतदर्शन ब्रह्मसूत्र, हरिकृष्णदास, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- योगवासिष्ठ के दार्शनिक एवं शैक्षिक सिद्धांत, डॉ. दीप्ति वाजपेयी, नवभारत प्रकाशन दिल्ली।
- गीता-प्रबंध, श्री अरविंद, अरविंद आश्रम, पांडिचेरी।
- भारतीय दर्शन, डॉ. राधा कृष्णन, राधाकमल प्रकाशन, दिल्ली।
- भारतीय संस्कृति, डॉ. राज किशोर सिंह, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
- समकालीन भारतीय दर्शन, बसंत कुमार लाल, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, दिल्ली।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

विभिन्न भारतीय मतानुसार मन्त्रों का वर्गीकरण

स्वर्ण लता शर्मा*

यदि यह कहा जाये कि भारतीय सभ्यता का आधार मन्त्र शक्ति है तो कोई अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, अथवा असंभव दोष प्रतीत नहीं होता है। भारतीय शास्त्रों में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया के मूल में भी मन्त्र शक्ति को ही माना जाता है, जिसे नाद ब्रह्म कहा जाता है। भारतीय भाषाओं के मूल वर्णविधान (विज्ञान) में भी प्रत्यक्षर मन्त्र तुल्य माना गया है।

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः।।[१]

पतञ्जलि ने योगसूत्र में भी शब्दों के सम्यक् अभिज्ञान से प्राप्त होने वाले अमोघ सुख और सभी कामनाओं की पूर्ति को स्वीकारा है। अर्थात् प्रत्येक अक्षर अथवा प्रत्येक शब्द का सुप्रयोग मन्त्रों के समान फलदायी होता है।

एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।।[२]

अब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सम्यक्तया यह कैसे जाना जाये कि मन्त्र क्या होता है अथवा मन्त्र किसे कहा जाता है?

मन्त्र की परिभाषाएँ– भारतीय शास्त्रों व ग्रन्थों में मन्त्रों की विभिन्न परिभाषायें प्राप्त होती हैं। जिनसे मन्त्रों के स्वरूप प्रयोग व महत्त्व को विभिन्न पक्षों से समझा जा सकता है। मन्त्र सम्बन्धित विभिन्न परिभाषाओं को यहाँ संकलित किया जा रहा है।

शब्दकल्पद्रुम के अनुसार 'मन्त्रयते गुप्तं परिभाषते इति। मन्त्रि गुप्तभाषणे + घञ्। वेद–भेदः अर्थात् गुप्त परिभाषण अथवा गुप्त मन्त्रणा को मन्त्र कहा गया है। अन्य परिभाषा में 'मनन करने से जो त्राण दे। अर्थात् संकटों को दूर करे वही मन्त्र कहलाता है– **मननात्त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः।** निरुक्त में भी इसी विचार को किञ्चित् साम्यता से इसी प्रकार कहा गया है। **मन्त्रा मननात्**[३], **तेभ्यो ह्यधयात्माधिदैवाधियज्ञादिमन्तारो तदेषां मन्त्रत्वम्।** मनन से मन्त्र कहलाए। सब आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधियज्ञ विचारों के मनन से मन्त्र कहलाए। मन्त्रों के अन्य सामान्य अर्थ छन्द, ऋचा, स्तुति, अथवा स्तोत्र कहे जाते हैं।

ऋचा को ही अर्चनी अथवा स्तुति भी कहा गया है– **ऋक् अर्चनी।**[४] **अर्च्यतेऽनया सा अर्चनी।** मृत्यु से भयभीत देवताओं द्वारा मन्त्रों से स्वयं का छादन करने पर ये छन्द कहलाए।

* सहायक आचार्या (संस्कृत), राजकीय महाविद्यालय धर्मशाला, जिला– काँगडा, हिमाचल प्रदेश।

अतः निरुक्त इस प्रकार व्याख्यायित करता है। **छन्दांसि छादनात्।**[५] **अथ छन्दांसि कस्मात्? छादनात्। यैरात्मानमाच्छादयन्देवामृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् - इति विज्ञायते।**

स्तवन अथवा स्तुति करने से इनका नाम स्तोम हुआ। अर्थात् इन मन्त्रों के द्वारा देवताओं का स्तवन किया जाता है। **स्तोमः स्तवनात्।**[६] इन्हीं मन्त्रों अथवा ऋचाओं का यजन करने से यजु नाम पड़ा। **यजुर्यजते। यजतेः धातोः। तेन हि विशेषत इज्येत।** स्तुति कर्म से ऋचाओं के समान परिणाम वाले होने के कारण ये साम कहलाए- **साम सम्मिमृचा।**[७]

इसी प्रकार से उच्चारण, जाप, प्रयोग आदि के आधार पर मन्त्रों को कई प्रकार से विभाजित किया जाता है।

निरुक्त के आधार पर विभाजन- ऋचाएँ जिन्हें साम, स्तुति अथवा प्रार्थनाएँ कहा गया है। उन ऋचाओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है। परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक।

तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः। प्रत्यक्षकृताः। आध्यात्मिक्यः च।[८]

परोक्षकृत- जो ऋचाएँ परोक्ष रूप से किसी अर्थ को प्रकाशित करती हैं, परोक्षकृत मन्त्र अथवा ऋचायें कहलाती हैं। परोक्षकृत मन्त्र सम्पूर्ण नाम विभक्तियों तथा तिङन्त के प्रथम पुरुष से युक्त होती हैं- **तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्या तस्य।**

प्रत्यक्षकृत- प्रत्यक्षरूप से किसी अर्थ को प्रकाशित करने वाले मन्त्र प्रत्यक्षकृत कहलाते हैं। मध्यमपुरुष और त्वम् नाम से संयुक्त मन्त्र प्रत्यक्षकृत कहलाते हैं- **अथ प्रत्यक्षकृताः मध्यमपुरुषयोगाः।**

आध्यात्मिकमन्त्र- जो मन्त्र उत्तम पुरुष से सम्बन्धित हों तथा जिनमें अहम् इस पद का प्रयोग किया जाता है, आध्यात्मिक मन्त्र कहलाते हैं- **अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना। उत्तमेन पुरुषेण या ऋचो युक्ताः ताश्च आध्यात्मिक्यः।**

लिङ्ग के आधार पर मन्त्रों का विभाजन- वृहद् इन्द्रजाल[९] में मन्त्रों के भेदों का विभाजन लिङ्ग के आधार पर किया गया है। मन्त्रों को पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकल्लिङ्ग तीनों लिङ्गों में वर्गीकृत किया जाता है।

पुल्लिङ्ग- जिन मन्त्रों का समापन फट् शब्द से होता है, पुल्लिङ्ग मन्त्र कहलाते हैं। वशीकरण व शान्तिकरण में पुल्लिङ्ग मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है।

स्त्रीलिङ्ग- जिन मन्त्रों का समापन स्वाहा शब्द से होता है। स्त्रीलिङ्ग मन्त्र कहलाते हैं। स्त्रीलिङ्ग मन्त्रों का प्रयोग क्षुद्र एवं नीच क्रियाओं की सिद्धि के लिए किया जाता है।

नपुंसकलिङ्ग- जिन मन्त्रों का समापन नमः पद से होता है, वह नपुंसकलिङ्ग मन्त्र कहलाते हैं। वशीकरण शान्ति, श्रुद्र क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं के लिए नपुंसकलिङ्ग मन्त्रों का उपयोग किया जाता है।

जप विधि के आधार पर मन्त्रों का वर्गीकरण- मन्त्रों का प्रयोग यज्ञ विधान, षोडश

संस्कार, वैदिक कर्मकाण्ड आदि कर्मों के लिए किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तथा आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक अभितापों के शमन के लिए भी मन्त्रों के जप विधान का महत्त्व सर्वविदित है। जप विधि के आधार पर मन्त्रों को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है। **मन्त्रस्य त्रिविधजपो यथा- वाचिकश्च, उपांशुश्च, मानसश्च त्रिधा स्मृतः।** अर्थात् मन्त्रजप विधि के तीन प्रकार हैं- वाचिक्, उपांशु और मानस।

वाचिक- उदात्तानुदात्तस्वरित स्वरों के आरोह अवरोह सहित स्पष्ट शब्दोच्चारण सहित जप वाचिक जप कहलाता है।

यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टशब्दवदक्षरैः।
मन्त्रमुच्चारयेद्वयक्तं जपयज्ञः स वाचिकः।।[१०]
तेन स्वरादिसुव्यक्तवर्णोच्चारणवान् वाचिकः।।

उपांशु- धीरे से उच्चारित किए जाने वाले मन्त्र जप विधि, जिसमें ओष्ठ को थोड़ा सा खोला जाता है। जिस जप को स्वयं ही सुना अथवा अनुभव किया जाता है, उपांशु जप कहलाता है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार- **शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयन् । किञ्चित् शब्दं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः।**[११] **स्वयंशब्दग्रहणमात्रयोग्यकिञ्चिच्छब्दवानुपांशुः।**

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार उपांशु उच्चारण को इस प्रकार से व्याख्यायित किया गया है। **अश्रव्यमुच्चारणमुपांशु। केचिन्मध्ये मध्ये तथोच्चारयन्ति यथा सम्पूर्णं वाक्यं न श्रुयते।**[१२] अर्थात् मन्त्रों अथवा शब्दों का ऐसा उच्चारण जो किसी अन्य के द्वारा अश्रव्य हो, या मध्य मध्य में ऐसा उच्चारण जिससे सम्पूर्ण वाक्य न सुनाई दे, ऐसा उच्चारण अथवा जप उपांशु कहलाता है।

मानस- जो जप मन में ही किया जाये, जिसके उच्चारण को कोई दूसरा न सुन पाये, उसे मानस जप कहते हैं। जप करने वाले बुद्धिजन वर्ण प्रतिवर्ण शब्द प्रतिशब्द तथा शब्दार्थों के चिन्तनाभ्यास के द्वारा जो जप मन में करते हैं। उसे मानस जप कहा जाता है।

धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात् पदम्।
शब्दार्थचिन्तनाभ्यासः स उक्तो मानसो जपः।
जिह्वोष्ठचालनमन्तरेण वर्णानुसन्धात्मको मानसः।।

अथर्ववेद को लौकिक विद्या का मूल ग्रन्थ माना जाता है। लौकिक विद्या में ईष्ट साधन के लिए मन्त्र-तन्त्र व यन्त्र के समन्वय का प्रयोग षड्यन्त्र के रूप में किया जाता है। षड्यन्त्र कर्म को छः कर्मों में आबंटित किया जाता है। जारण, मारण, सम्मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, व विध्वंसन। इन षड्यन्त्रों के लिए किए जाने वाले मन्त्र प्रयोग को भी इन छः वर्गों में बाँटा जाता है।

१. जारण- मन्त्र-तन्त्र व यन्त्र के प्रयोग से किसी व्यक्ति का जारण (जलाना) किया जाता है।

२. मारण- मन्त्र-तन्त्र व यन्त्र के द्वारा किसी शत्रु की मृत्यु करा देना मारण कहलाता है।

३. सम्मोहन अथवा वशीकरण- मन्त्र-तन्त्र व यन्त्र के द्वारा किसी के मन को सम्मोहित कर स्वयं के स्वार्थों की पूर्ति करना सम्मोहन कहलाता है। शत्रु को अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिए अथवा इच्छित व्यक्ति के द्वारा अपने अनुरूप कार्य करवाने के लिए बाध्य करने की क्रिया अथवा तन्त्र-मन्त्र व यन्त्र के प्रयोग को वशीकरण कहा जाता है।

४. उच्चाटन- उच्चाटन कर्म में तन्त्र-मन्त्र व यन्त्र के द्वारा व्यक्ति के मन को अपने लक्ष्य व जीवन पद्धति से अलग किया जाता है। जिससे उस शत्रु या मनुष्य का मन स्थिर नहीं रहता है। उसे उच्चाटन कहा जाता है।

५. स्तम्भन- तन्त्र-मन्त्र व यन्त्र के द्वारा शत्रु की बुद्धि को स्तम्भित किया जाता है। जिससे वह स्वतन्त्र रूप से कोई भी निर्णय नहीं ले सकता है।

६. विध्वंसन- किसी भी शत्रु के साम्राज्य, घर अथवा परिवार का नाश कर देना विध्वंसन कहलाता है। यद्यपि इन सभी क्रियाओं का प्रयोग लोक कल्याण के लिए किया जाता है। तथापि स्वार्थ वश कुछ दुष्ट प्रवृति के लोग इनका प्रयोग अपनी स्वार्थ सिद्धि व दुष्ट कर्म के लिए भी करते हैं।

शाबर मन्त्र- उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति जिन अन्य लौकिक मन्त्रों की सिद्धि से की जाती है, उन्हें शाबर मन्त्र कहा जाता है।

इस प्रकार मन्त्र शब्द गुप्तिवाद, वेदभेद आदि अर्थों में ग्रहण किया जाता है। अमरकोश के अनुसार मन्त्र की व्याख्या है।

मन्त्र-कर्बुरेऽथ प्रतिज्ञाजिसंविदापत्सु सङ्गरः।
वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रो मित्रो रवावपि।।[१३]

अभ्यङ्करव्याकरणकोश में भी मन्त्र से अभिप्राय वेद विभाग से है- "Name given to the Samhitā portion of the Veda works especially of the Ṛgveda and the Yajurveda as different from the Brāhmaṇa, Āraṇyaka and other portions of the two Vedas as also from the other Vedas; cf." मन्त्रशब्द ऋक्शब्दे च यजुःशब्दे च।

दण्डी, महर्षि पतञ्जलि व सुभाषितरत्नाकर के अनुसार प्रत्यक्षर व प्रतिवर्ण साधु उच्चारण से मन्त्रजप तुल्य प्रतिफल प्राप्त होता है। मन्त्र रहस्य के अनुसार प्रत्यक्षर मूल में बीज मन्त्र का अस्तित्व होता है। जिससे सृष्टि प्रक्रिया के संचलन को ऊर्जस्वित किया जा सकता है। मन्त्रों के वर्गीकरण के भी विभिन्न प्रकार व मत स्वीकार किए जाते हैं। जिनमें उच्चारण के आधार पर परा, पश्यन्ति, मध्यमा व वैखरी किए जाते हैं। जप विधि के आधार पर वाचिक, उपांशु व मानस भेद भी परिलक्षित होते हैं। शाबर मन्त्र व षड्यन्त्र कर्म के आधार पर भी मन्त्रों का वर्गीकरण स्वीकार किया जाता है। योग सिद्धि आत्मकल्याण व मोक्ष प्राप्ति के लिए भी वैदिक, आध्यात्मिक व बीज मन्त्रों के

आधार पर भी मन्त्रों का वर्गीकरण स्वीकार्य है। मन्त्र सभी के जीवन को ऊर्जावान् व क्षमतावान् बनाये रखता है। इसी मंगल कामना के साथ इति श्री।।

सन्दर्भ

१. सुभाषितरत्नाकर।
२. पञ्जलि (पातञ्जल महाभाष्य, प्रथम आह्निक)।
३. निरुक्त, सप्तमोऽध्यायः, पृ. सं. २२४
४. निरुक्त, प्रथमोऽध्यायः, पृ. सं. २५-२६
५. वही।
६. वही।
७. वही।
८. निरुक्त, दैवत काण्डम्, सप्तमोऽध्यायः, पृ. सं. २०२
९. बृहद् इन्द्रजाल, पृ. सं. ४३
१०. शब्दकल्पद्रुम।
११. वही।
१२. पाणिनीय शिक्षा, पृ. सं. ४८
१३. अमरकोश, ३.३.१७५

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- निरुक्त, पञ्चाध्यायी, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली, ११०००२
- शब्दकल्पद्रुम, (स्यार-राजा-राधाकान्तदेव-बाहादुरेण विरचितः), चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी।
- अमरकोषः अर्थात् नामलिङ्गानुशासनम् (नामकोषः), श्री मदमरसिंहविरचितः, मुंशी नवलकिशोर (सी.आई.ई.) इत्यस्य मुद्रणालये मुद्रितः प्रकाशितश्च।
- पाणिनीय शिक्षा, सम्पादक- बालकृष्ण शर्मा, सह सम्पा. सन्तोष पण्ड्या।
- पातञ्जल महाभाष्यम्।
- वृहद् इन्द्रजाल, तान्त्रिक श्रीमणि शुक्ल, प्रकाशक- श्री दुर्गा पुस्तक भण्डार (प्रा. लि.), ५२७ ए/२, कक्कड नगर, इलाहबाद- ३।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

भारतीय संस्कृति में नारी का मानवशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. वर्षा खण्डेलवाल*

शोध सारांश– नारी सृष्टि का आधार है। भारतीय संस्कृति में नारी का गौरवशाली स्थान प्राप्त है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों में नारी की स्थिति भिन्न–भिन्न ही रही है। वैदिककालीन नारी को देवी के रूप में स्थान प्राप्त है। वह पुरुष के हर कार्य क्षेत्र में उनका साथ देती थी। वेदों की कुछ ऋचाएँ महिला–ऋषिकाओं द्वारा रचित हैं, जिनमें अपाला, घोषा, यमी, सावित्री आदि का नाम आता है। वैदिककाल में नारियों के प्रति एक प्रगतिशील प्रवाह प्रदर्शित हुआ है। उत्तर वैदिककाल आते–आते और महाकाव्य काल में स्त्रियों के साथ भेदभाव की स्थिति में परिवर्तन आने लगा तथा उन पर प्रतिबन्ध लगने लगा। उपनिषद् काल में नारी तत्त्व की ज्योतिर्मय स्वरूप में व्याख्या मिलती है। एक ही ज्योति के दो रूप के समान नारी को पुरुष की अनुपम सहकर्मी माना जाता था। मौर्योत्तर काल व गुप्तकाल में भी नारी केवल गृहकार्यों के लिये सीमित रह गई। मध्यकालीन युग में राजनीतिक स्थिति लगातार विदेशी आक्रमणों के होने से भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक परिवेशों का आगमन हो रहा था। मुसलमानों का वर्चस्व स्थापित होने पर नारियों की अवनति का मार्ग प्रशस्त होने लगा। भारतीय स्त्रियों के गुण अब अवगुण में परिणत होने लग गये। आधुनिक काल में नारी की स्थिति में बहुत परिवर्तन आये हैं। नारी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में कार्य कर रही हैं। नारियों में प्रचलित कुप्रथाओं के विरुद्ध हमारे महापुरुषों ने आवाज उठाई। इनसे महिलाओं में जागृति आने लगी। फिर भी महिलाओं को अभी भी सामाजिक दबाव झेलना पडता है। वर्तमान में नारी सशक्तिकरण की आवश्यकता है। महिलाओं को आत्मप्रशिक्षण दिलाया जाना चाहिए, ताकि वे अपनी सुरक्षा कर सकें। महिला को जागरूक रहना चाहिए तथा विपत्ति से निपटारे के लिये उपाय भी करने चाहिए। महिलाओं की शिक्षा को बढ़ावा देना चाहिए। महिलाओं के गरिमापूर्ण विकास से उन्नत समाज तथा राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।

बीज शब्द : संस्कृति, नारी सशक्तिकरण, काल, आत्मप्रशिक्षण, गरिमा, समाज, राष्ट्र।

नारी वह शक्ति है, जो सृष्टि का निर्माण करती है। नारी ही समाज को जीवनदान देती है। भारतीय संस्कृति में नारी को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। नारी के अस्तित्व को समझने से पहले भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों में नारी की स्थिति के बारे में जानना आवश्यक होगा। भारतीय संस्कृति में नारी की स्थिति अलग–अलग समयों पर भिन्न–भिन्न ही रही है। नारी के बिना सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार तार के बिना वीणा की कल्पना अधूरी है, धुरी के

* सहायक आचार्य– संस्कृत, बाबू शोभाराम राजकीय कला महाविद्यालय अलवर, राजस्थान

बिना पहिए की कल्पना अधूरी है, उसी प्रकार नारी के बिना सृष्टि की कल्पना अधूरी है। नारी पुरुष की जीवन संगिनी है। दोनों ही सृष्टि रूपी रथ के दो पहिये के समान हैं।

१. वैदिककालीन नारी की स्थिति- वैदिक युग में नारी को देवी के रूप में स्थान प्राप्त था। नारी पुरुष के हर कार्य क्षेत्र में उनका साथ देती थी। महर्षि मनु ने कहा भी है कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ नारियाँ शोचनीय स्थिति में होती हैं, वहाँ सभी प्रकार की क्रियाएँ विफल हो जाती हैं।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।[१]

वैदिक काल में महिलाओं को पुरुषों के समान ही विशेषाधिकार प्राप्त थे। महिलायें अनेक क्षेत्रों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती थी। ऋग्वैदिक काल में महिलाओं को उच्च शिक्षा भी दी जाती थी। उच्च शिक्षा को ब्रह्मज्ञान कहा जाता था। महिलाओं को वेदों का ज्ञान प्राप्त करने की भी अनुमति थी। वेदों की कुछ ऋचाएँ महिलाओं द्वारा रचित हैं, जिनमें अपाला, घोषा, यमी, सावित्री आदि का नाम आता है। वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महिलाएँ सैनिक शिक्षा भी ग्रहण करती थीं, क्योंकि अर्द्धनारीश्वर का रूप इसका संकेत देता है। वैदिक युगीन नारी पारिवारिक कर्तव्यों के निर्वहन के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में अपना योगदान देती थी। वैदिक काल में बेटे और बेटी के सामाजिक और धार्मिक अधिकारों में अंतर नाममात्र था। वैदिक शिक्षा प्रणाली इतनी स्वतंत्र और समतावादी समाज से प्रभावित थी कि वैदिक मंत्रों की रचना करने वाली महिलाओं की संख्या २० से अधिक है, जो यह बताने में पर्याप्त है कि वैदिककालीन महिलाओं की स्थिति सुदृढ़ थी। ब्रह्मवादिनी ममता लंबे समय तक रहने वाले संत की माँ थी। अग्नि के निमित्त उनका पाठ ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल के दसवें सूक्त के मन्त्र में मिलता है। अत्रि महर्षि के वंश में पैदा हुई विश्ववारा ने ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के अट्ठाइसवें सूक्त में वर्णित छः संस्कारों की रचना की। ब्रह्मवादिनी घोषा जो एक प्रख्यात विद्वान् थी, उन्होंने ब्रह्मचारिणी कन्या के सभी कर्त्तव्यों का उल्लेख दो ब्रह्मचारिणी के रूप में दो सूक्तों में किया। इस आख्यान का संकेत ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ३९वें से ४१वें सूक्त में मिलता है। वाक् देवी के नाम पर ऋग्वेद में दसवें मण्डल के १२३वें सूक्त 'वाक्सूक्त' में आठ मन्त्रों की रचना की गई है। वैदिककाल में महिलाओं को अपना वर स्वयं चुनने का अधिकार था। उस समय बाल-विवाह प्रथा नहीं थी। उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्री को विवाह योग्य अत्यधिक उत्तम माना जाता था। वैदिककालीन स्त्रियाँ गाय दुहना (दुहिता), सूत कातना, बुनना और वस्त्र सिलना भी जानती थीं। तत्कालीन स्त्रियाँ नृत्यकला में भी निपुण थीं और साथ ही ऋचाओं का गान भी करती थी।[२] इस प्रकार वैदिककालीन स्त्री वैदिक शिक्षा के साथ-साथ नृत्य, संगीत, ज्ञान, चित्रकला आदि विषयों की भी शिक्षा ग्रहण करती थी। वैदिक स्त्री अपने अधिकारों के प्रति जागरूक थी। वह स्वतंत्र और स्वछन्द भी थीं। उस समय की

नारी समाज के लिये आदर्श उदाहरण थीं तथा यह आशा की जाती थी वह वृद्धावस्था तक जनसभा में बोल सके और लोगों को समझ सके। वैदिककालीन नारी विदथ (सभा और समिति) तथा समन (उत्सव और मेला) में स्वच्छन्दतापूर्वक सम्मिलित होती थी। अथर्ववेद में कहा भी गया है– **'जुष्टा नरेयु समनेषु वल्गुः।'**[३]

वैदिक समाज में नारियों के प्रति एक प्रगतिशील प्रवाह प्रदर्शित हुआ है, जो वर्तमान समाज में भी आदर्श माना जाता है। आज नारी के प्रति गरिमामय पूर्ण स्थिति बनाने के लिये वैदिक संस्कृति को ही आधार स्वरूप माना जाता है।

प्राचीनकाल में नारी– प्राचीनकाल में नारी को गौरवशाली स्थान प्राप्त था। वह आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में पुरुष का साथ निभाती थी। भारत की स्त्रियों को शिक्षा व यज्ञ करने का अधिकार था। पत्नी को लक्ष्मी का रूप माना जाता था। प्रत्येक सामाजिक व धार्मिक कार्यों में स्त्रियों की उपस्थिति अनिवार्य थी। लड़कियों का विवाह युवावस्था में होता था, वे अपना जीवनसाथी चुनने के लिये स्वतन्त्र थी। उदाहरण के रूप में रामायण महाकाव्य में सीता स्वयंवर और महाभारत में द्रौपदी स्वयंवर को ले सकते हैं।

उत्तरवैदिककाल और महाकाव्य काल में स्त्रियों के साथ भेदभाव की स्थिति में परिवर्तन आने लगा। उनकी धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्थितियों पर प्रतिबन्ध लगने लगा। उन्हें वेद पढ़ने व मन्त्रोच्चारण के लिये उपयुक्त नहीं समझा गया।[४] उनकी धारणा उत्तरवैदिक काल में व्यवहारिक नहीं लग रही थी। पुत्री होने पर वह स्वागत योग्य नहीं समझी जाती, क्योंकि वह धार्मिक कार्यों के लिये उपयुक्त नहीं थी। स्त्री को जन्म से मृत्युपर्यन्त पिता, भाई, पति के अधीन माना जाने लगा। स्त्रियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे केवल गृहस्थ जीवन में अपना अच्छा योगदान दे सकें। स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देना बन्द कर दिया। पर कुछ संकेत ऐसे भी मिले हैं, जिनमें स्त्रियों के उच्च पद पर आसीन होने का जिक्र है। कुछ स्त्रियों द्वारा संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि की शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है। स्त्री शिक्षा की कमी होने से बाल–विवाह प्रचलन में आने लगा। मौर्यकाल में महिला की न्यूनतम आयु १२ वर्ष व पुरुष की न्यूनतम आयु १६ वर्ष होने का संकेत मिलता है। कौटिल्य ने बारह वर्ष की कन्या को रजस्वला प्राप्त करने के पश्चात् विवाह योग्य माना है। उनके अनुसार कन्याओं का विवाह अपरिहार्य है और यदि रजस्वला प्राप्त करने के पश्चात् तीन वर्ष तक उनका विवाह माता–पिता द्वारा नहीं किया जाता तो कन्याओं को यह भी अधिकार देते हैं, कि वह अपनी इच्छा के पुरुष से विवाह कर सकती है, चाहे वह सजातीय हो या विजातीय हो।[५] वैदिक साहित्य के उपरान्त उत्तर वैदिककाल से ही महिला की स्थिति में गिरावट देखने को मिलती है। फिर भी महिला को पुरुष की सहधर्मिणी माना जाता था। उन्हें यज्ञ में पुरुष की सहभागिता प्राप्त थी।

उत्तरवैदिक साहित्य के बाद सूत्र साहित्य की बात की जा सकती है। सूत्र साहित्य के कल्प

सूत्र, गृह सूत्र और धर्म सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं। यही वह काल था जब कन्या के विवाह आयु में निरन्तर कमी आई तथा संभवतः युवावस्था के पास पहुँचते ही कन्याओं का विवाह कर दिया जाता था।[६] अब स्त्रियों के चरित्र पर अधिक दिया जाने लगा। उन्हें पति के अधीन ही मान लिया गया। उन्हें गृहकार्यों के प्रति सीमित किया जाने लगा। इस काल में नारी को पुरुष की दासी के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। बाल विवाह प्रचलित होने से कन्याओं की शिक्षा बन्द कर दी गई तथा स्त्रियों को विधवा होने पर नियोग द्वारा एक पुत्र की उत्पत्ति का अधिकार दिया गया।[७] इस काल में नारी के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं– एक तो माता के रूप में, जो वन्दनीय था और दूसरा दासी के रूप में, जिसमें अधिकारों की कटौती होती थी।

इसके बाद उपनिषद् काल आता है, जिसमें नारियों को महत्ता प्राप्त थी। हालांकि उपनिषदों में नारी शब्द का वर्णन नहीं मिलता है, पर नारी तत्त्व की ज्योतिर्मय स्वरूप में व्याख्या मिलती है। उपनिषदों में नर व नारी को ज्योति स्वरूप ही स्वीकारा है। ये दोनों एक ही ज्योति के दो रूप हैं। नारी को पुरुष की अनुपम सहकर्मी माना जाता था। छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषद् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नारियों को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार था। मैत्रेयी इसका उदाहरण है। पृथ्वी को भी माता के समान वन्दनीय माना जाता था।

महाकाव्यकाल में स्त्रियों के अधिकारों का अच्छा विवरण देखने को मिलता है। इसका काल बहु विवाह का प्रचलन साधारण और राजपरिवारों में व्याप्त था। रामायण काल में हम आदर्श स्त्री का स्वरूप उभरा हुआ पाते हैं। इससे महिला की स्थिति का वास्तविक बोध भी प्राप्त होता है। राजपरिवारों में भी स्त्री की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुये विभिन्न नियम बने हुये थे। परिवार में पति का स्वामित्व होने पर भी स्त्री की प्रभुता कायम रहती थी। स्त्री के लिये गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।[८] महाभारत काल में भी महिलाओं की स्थिति अच्छी थी। तत्कालीन द्रौपदी को एक सशक्त महिला के रूप में देखा जा सकता है। महिलाएँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक थी। कुन्ती को कुशल महिला व गान्धारी को दृढ़ संकल्प के लिये नारी की महत्ता के प्रतीक रूप में मान सकते हैं। नारी को अपना वर चुनने का अधिकार था। द्रौपदी ने राजा युधिष्ठर को युद्ध के लिये प्रेरित किया था। किरातार्जुनीयम् में द्रौपदी युधिष्ठर को शान्ति को त्यागकर शत्रुओं के दमन के लिये प्रचण्ड प्रताप का आश्रय लेने के लिये कहती है।

विहाय शान्तिं नृप! धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि बधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूयं निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।।[९]

स्मृतिकाल में नारी की स्थिति में गिरावट देखने को मिलती है। मनु ने कहा है कि पति की सेवा ही नारी का धर्म है। विवाह संस्कार में नारी के लिये वैदिक मन्त्रों का प्रयोग आवश्यक माना गया और कोई भी संस्कार नारियों के लिये आवश्यक नहीं माने गये।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिक स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।[१०]

मौर्योत्तरकाल व गुप्तकाल में भी नारियों की स्थिति में पतन की स्थिति आई। नारी केवल गृहकार्यों के लिये सीमित रह गई।

मध्यकालीन नारी– मध्यकालीन युग में राजनीतिक स्थिति डांवाडोल रही। इसका प्रभाव भारत की सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक स्थिति पर पड़ा। लगातार विदेशी आक्रमणों के होने से भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक परिवेशों का आगमन हो रहा था। इस्लामिक आक्रमण होने से पहले तो संघर्ष की फिर सांस्कृतिक परिवर्तन की भूमि तैयार हुई। मुसलमानों का वर्चस्व स्थापित होने पर नारियों की अवनति का मार्ग प्रशस्त होने लगा। भारतीय स्त्रियों के गुण अब अवगुण में परिणत होने लग गये। वह सम्राज्ञी न होकर आश्रिता बन गई। वैदिक युग में जहाँ नारी के बिना धर्म और समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, वहीं अब उन्हें वेदों का पाठ करने से अयोग्य घोषित कर दिया गया। वैदिक धर्म में नारियाँ पुनीत कार्य में प्रमुख स्थान रखती थी, साहित्य की दृष्टि से भी वह सुदृढ़ थी। मध्यकाल में नारियों पर साहित्यिक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। यह स्त्रियों की स्थिति में गिरावट का युग था– **'स्त्री शूद्रे नाधीताम्।'**[११] जैसे वाक्य लिखकर उन्हें शूद्र की श्रेणी में रखा जाने लगा। नारी को केवल भोग की वस्तु बना दिया गया। विवाह संस्कार के अतिरिक्त सभी संस्कारों से उसे वंचित कर दिया गया। श्रीरामचरितमानस में तुलसीदास ने कहा है– **'ढ़ोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताडन के अधिकारी।'** भक्त कवि कबीर ने नारी की परछाई से बचने का उपदेश दिया है।

नारी की झांई परत अंधा होत भुजंग कबीरा।
तिनकी का गति जो नित नारी के संग।।[१२]

इस काल में पर्दा प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह, अविद्या नारी समाज के लिये अभिशाप बन गये। आत्मज्ञान में रत पुरुषों ने उसे मोक्षमार्ग में बाधा स्वरूप माना। गृहस्थों ने माता, भगिनी तथा कन्या के रूप में उसे देवता, धरोहर माना, परन्तु किसी ने भी उसे समान, स्वत्व व पराक्रम रूप में नहीं स्वीकारा।

मध्यकालीन काव्य में मीरा ने नारी की अस्मिता पर आवाज उठाई। वहीं सुभद्रा कुमारी चौहान, सुमित्रा कुमारी सिन्हा आदि ने नारी को अपनी आवाज दी। नारी को अशिक्षित मस्तिष्क कुसंस्कारों से पूर्ण हृदय पर नियामकों ने अपने अनुरूप आदर्शों से लदने का प्रयास किया, उसे भी नारी ने शिरोधार्य कर अपना आदर्श बना लिया। इस्लाम के भारत में आने के बाद सुरक्षा, विवाह, दहेज आदि प्रश्नों ने कन्या जन्म को अप्रतिष्ठा का विषय बना दिया। अमीर खुसरो कहते हैं– ''मैं चाहता था कि तुम्हारा जन्म ही नहीं होता और यदि होता भी तो पुत्र रूप में। कोई भाग्य का विधान नहीं बदल सकता, परन्तु मेरे पिता ने एक स्त्री से जन्म लिया और मुझे भी तो एक स्त्री ने पैदा किया था।''[१३]

हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर नारी को ऐसे सामाजिक बन्धनों में जकड़ दिया गया, जिससे

वह केवल पुरुष की परछाई बनकर रह गई। स्त्री शिक्षा समाप्त हो गई थी। यद्यपि मध्यकालीन इतिहास में रजिया बेगम, चाँद बीबी, ताराबाई, अहिल्याबाई आदि नारियों के सुशासन का वर्णन हमें मिलता है, पर इन चंद उदाहरणों से नारी की स्थिति को अच्छा नहीं कहा जा सकता है। आवश्यकता पडने पर यह उच्च कुलीन वर्ग तक सीमित थी।

इस प्रकार कह सकते हैं कि स्त्रियों की सुरक्षा व व्यवस्था को बनाते हुये पुरुष समाज में प्रधान बन गये। स्त्रियाँ केवल घर की चारदीवारी तक सीमित रह गई।

आधुनिक कालीन नारी– आधुनिक समाज में नारी की स्थिति में बहुत परिवर्तन आये हैं। आज नारी हर क्षेत्र जैसे– सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में कार्य कर रही है। नारियों में प्रचलित कुप्रथाओं के विरुद्ध हमारे महापुरुषों ने आवाज उठाई। राजा राममोहन राय, जिन्हें जागरण का अग्रदूत माना जाता है, उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई और वर्तमान में इस पर प्रतिबन्ध है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह पर समाज को जागरूक करने का प्रयास किया। महिलाओं की पढ़ाई पर ध्यान दिया जाने लगा। सावित्री बाई फुले ने सर्वप्रथम महिलाओं को शिक्षित करना प्रारम्भ किया। इन सबसे महिलाओं में जाग्रति आने लगी। १८५७ की क्रान्ति में महारानी लक्ष्मीबाई ने प्रशासन की बागडोर स्वयं के हाथों में लेकर एक शक्ति के रूप में प्रदर्शन किया।

आधुनिक समाज में भी अभी पुरुष का स्थान सर्वोपरि है। भारतीय समाज में यद्यपि महिलायें प्रत्येक क्षेत्र में अपना परचम लहरा रही हैं, फिर भी महिलाओं को अभी भी सामाजिक दबाव झेलना पड़ता है। शहरी क्षेत्रों में और कुलीन वर्ग महिलाओं में उनको उन्नति के अवसर ज्यादा मिलते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं को अभी भी दोयम दर्जा मिला हुआ है। वस्तुतः ऐसे विवाद भी होते हैं कि महिलायें पुरुषों के समान मजबूत नहीं होती हैं, अतः हर कार्य उनसे नहीं कराया जा सकता। क्या हमने कभी यह सोचा है कि बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जो केवल महिलायें कर सकती हैं, पुरुष नहीं। प्रकृति ने स्त्री एवं पुरुषों को संसार के कार्यक्षेत्र हेतु निर्धारित किया है। भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में दोनों की भूमिका बदलती रहती हैं। अतः उनके स्थायी मापदण्ड निर्धारित नहीं किये जा सकते।

शहरी क्षेत्रों में तो नई विचारधारा तीव्रता से अपना स्थान बना रही है, पर ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति अभी भी बहुत खराब है। वहाँ महिलाओं के शिक्षण, जागरूकता पर ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके कारण गरीबी, अनियोजित परिवार, स्वास्थ्य एवं पिछडेपन आदि की समस्यायें उनमें जस की तस है। किसी भी देश के स्थायी विकास के लिये महिलाओं व पुरुषों के बीच समानता अति महत्त्वपूर्ण है। महिलाओं के प्रति सरकार कई महत्त्वपूर्ण योजनाएँ चला रही है। इन योजनाओं का महिलाओं तक पहुँचना अत्यावश्यक है। नित्य बदलती दुनिया, राजनीतिक संक्रमण और संकटों के वैश्विक प्रभाव में हमें आज बेहतर प्रतिनिधित्व की आवश्यकता है। इसीलिये आज समाज के सभी

पहलुओं में महिलाओं के विचार और उनकी भागीदारी पहले से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। महिलाओं की राजनैतिक और संवैधानिक स्थिति में सुधार, सार्वजनिक जीवन में स्थान, भेदभाव को खत्म करने और महिलाओं को सशक्त करने के लिये सकारात्मक उपायों को अपनाने की आवश्यकता है। आर्थिक संकट की स्थिति विशेषतः महिलाओं के लिये कठोर होती है। अतः अनिश्चित रोजगार, सामाजिक सुरक्षा और अन्य समस्याओं से बचने हेतु उनके शिक्षित होने की आवश्यकता है। महिलायें ही वह माध्यम हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वस्थ मानव का निर्माण करने में सहायक भूमिका अदा करती हैं। आज महिलाओं को सशक्त होने की महती आवश्यकता है। महारानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावती, कल्पना चावला, प्रतिभा पाटिल, द्रौपदी मुर्मू जैसी अनेक स्त्रियों ने भारत देश की उन्नति व विकास में सहयोग प्रदान किया है, परन्तु अभी भी इस दिशा में और अधिक प्रयास किये जाने की आवश्यकता है, ताकि नारी-पुरुष का भेद पूर्णतया समाप्त हो जाये।

नारी सशक्तिकरण के माध्यम- वर्तमान में नारी को सशक्त करना आवश्यक है, जिससे देश की उन्नति सुगमतापूर्वक हो सके। नारी में कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो समाज को एकजुटता में बाँधे रख सकती हैं। आज वर्तमान युग में नारी को ऐसी शिक्षायें या गुण देने की आवश्यकता है, जो संस्कारवान् देश का सुनिर्माण कर सके। इस विषय में कुछ बिन्दु द्रष्टव्य हैं।

१. महिलाओं को आत्मप्रशिक्षण का प्रशिक्षण दिलाया जाना चाहिए, ताकि कहीं असुरक्षा महसूस होने पर वे अपनी सुरक्षा कर सकें। प्राचीनकाल में महिलायें शस्त्रादि विद्या में निपुण होती थीं। वे आवश्यकता पड़ने पर युद्ध आदि क्रियाओं में भाग लेती थीं। गोंडवाना की रानी दुर्गावती इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। आज भी नारी को स्वयं की रक्षा हेतु सशक्त रहना चाहिए।

२. महिलाओं में एक विशेषता होती है कि वह विपत्ति आने से पहले ही थोडा सा महसूस कर लेती हैं कि कुछ आपत्ति आने वाली है। यह महिलाओं में स्वाभाविक गुण होता है। इसमें महिला को जागरूक रहना चाहिए तथा विपत्ति से निपटारे के लिये उपाय भी करने चाहिए। राजस्थान के जौहर इसके उदाहरण हैं। जब रानियों ने जाना कि राज्य पर विदेशी आक्रमणकारी जीत हासिल कर रहे हैं और उनके सतीत्व की रक्षा का कोई उपाय नहीं है, तो उन्होंने जौहर की प्रक्रिया अपनाई।

३. महिलाओं को उनके अधिकारों के लिये भी जागरूक करना चाहिए। इससे वह समाज में समकक्ष स्तर बनाये रखे।

४. महिलाओं की शिक्षा को बढ़ावा देना चाहिए, क्योंकि महिलायें ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक अच्छे समाज को बनाये रखने में सक्षम हैं।

इस प्रकार महिलाओं को हर क्षेत्र में भागीदारी देने से उन्नत राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। महिलाओं में चतुरता का गुण भी उन्हें विशेष बनाता है। महाकवि कालिदास उसी गुण को शकुन्तला पर आरोपित करते हुए स्त्री विशेष को प्रदर्शित करते हैं।

स्त्रीणामशिक्षितपतुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति।।[१४]

अर्थात् स्त्रियों में मानवजाति से भिन्न (पशु-पक्षी आदि) की स्त्रियों में शिक्षण के बिना भी चतुरता देखी जाती है, तो ज्ञानवती स्त्रियों का तो कहना ही क्या?

इस प्रकार अगर स्त्रियों को शिक्षित कर सकारात्मक पहलू विकसित किया जायेगा तो उन्नत समाज, राष्ट्र का प्रत्यक्षीकरण हो सकता है।

सन्दर्भ

१. मनुस्मृति, ३.५६
२. झा एवं श्रीमाली २००१, प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम, कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली।
३. अथर्ववेद, ४४.१.२१
४. डॉ. एस. अल्तेकर, पॉजिशन ऑफ वुॅमन इन एनसियेण्ट इण्डिया, पृ. ४-५
५. कौटिल्य-अर्थशास्त्रम्।
६. लता सिंघल (१९९१), भारतीय संस्कृति में नारी, परिमल प्रकाशन, दिल्ली।
७. महर्षि गौतम (दि.न.)।
८. गजानन शर्मा (१९७१), प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, मध्य प्रदेश ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
९. किरातार्जुनीयम्।
१०. मनुस्मृति, २.६७
११. अग्रवाल, प्रेमनारायण, सम्पा. जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिपो, नई दिल्ली, पृ. सं. २३-२४
१२. स्त्री : भारतीय एवं पाश्चात्य अवधारणा, डॉ. मधु देवी, अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका, शोध, समीक्षा और मूल्यांकन, पृ. सं. ७४
१३. कस्तवार, रेखा, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण २००६, पृ. सं. ६४
१४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५.२२

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. XXIII & XXIV, July 2024 - June 2025

श्रीमद्भागवत पुराण में सामाजिक जीवन दिग्दर्शन

डॉ. अंजलि उपाध्याय*, शिवानी त्यागी**

शोधसार– पुराणों में न केवल भारतीय समाज व्यवस्था का चित्रण है, अपितु आदर्श समाज बनाने की व्यापक विधियाँ वर्णित हैं। वर्णाश्रम के गुण, कर्म, विविध संस्कार, पारिवारिक सम्बन्ध, राजधर्म, स्त्रीधर्म, गुरु–शिष्य के बीच सम्बन्ध इत्यादि का विवरण है। पुराण पूरे समाज के लिए आधार संहिता प्रदान करते हैं। किसी देवता और देवी की उपासना का विधान बताकर उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति पर पुराणों में बल दिया गया है। जिस देवता की भक्ति का विधान है उसे ही श्रेष्ठ कहकर अन्य देवताओं को गौण भी बताया गया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना का विशेष महत्त्व विविध पुराणों में अंकित है, मुख्य पुराणों में विष्णु के विविध अवतारों का वर्णन या शिव और उनके परिवार की विभिन्न कथाएँ वर्णित हैं। अवतारवाद, मूर्ति पूजा और भक्ति का अत्यधिक प्रचार इसमें मिलता है। व्रतों और उपवासों के अनुष्ठान के छल दिखाकर पुराणों में जन सामान्य को सामाजिक बनाने का प्रयास किया गया है। पुराणों के ज्ञान के माध्यम से समाज का उत्थान हुआ। इसलिए सामाजिक जीवन के लिए पुराणों का ज्ञान आवश्यक है।

पुराण समाज का अंग बनकर प्राचीन कथाओं, वंशावलियों, इतिहास, भूगोल के तथ्यों एवं ज्ञान समाज के सभी विषयों को पुराणों में कालक्रम से समाविष्ट कर दिया गया। जिस प्रकार महाभारत की प्रसिद्धि प्राचीन काल से चली आ रही है उसी प्रकार पुराण भी प्रसिद्ध रहा है, जिसकी अन्तिम रचना व्यास जी ने की थी। पुराणों का सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, प्रासंगिक, नैतिक आदि कवियों को इतना महत्त्व है जितना किसी साहित्य का नहीं हो सकता।

पुराण के साथ 'पञ्चलक्षण' का सम्बन्ध प्राचीन तथा घनिष्ठ है। पुराण के पञ्च लक्षण की इस श्लोक के माध्यम से दर्शाया गया है–

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।[१]

पुराण विषयक यह पद्य प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होता है। पञ्च लक्षण शब्द पुराण का इतना अनिवार्य द्योतक माना जाता था कि अमरकोश में यह शब्द बिना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त किया गया है।

* असिस्टेंट प्रोफेसर–संस्कृत, दयानन्द आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, मुरादाबाद (उ.प्र.)।
** शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दयानन्द आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, मुरादाबाद (उ.प्र.)।

जगत् की तथा उनके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि 'सर्ग' कहलाती है। सर्ग से विपरीत वस्तु प्रलय है। ब्रह्माजी के द्वारा जितने राजाओं की सृष्टि हुई, उनकी भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालीन सन्तान परम्परा को वंश नाम से पुकारते हैं। पुराण के अनुसार सृष्टि के विभिन्न काम–भाव का द्योतक यह शब्द है। वंशों में उत्पन्न हुए वंशधरों का तथा पुरुष राजाओं का विशिष्ट विवरण जिसमें वर्णित होता है वह 'वंशानुचरित' कहलाता है।

श्रीमद्भागवत में दो स्थानों पर तथा ब्रह्मवैवर्त में दस लक्षण महापुरण के निर्दिष्ट हैं और पूर्वोक्त पाँच लक्षणों को क्षुल्लक पुराण का लक्षण माना गया है। भागवत के द्वादश स्कन्ध के अनुसार ये दस लक्षण हैं।

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।।[२]

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तिम दशम अध्याय में दस लक्षणों का निवेश है जो पूर्वोक्त लक्षणों से साम्य रखने पर भी नामतः है।

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूल्यः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।।[३]

सामान्य बोलचाल की भाषा में 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए 'ईसाई समाज', 'आर्य समाज', 'ब्रह्म समाज', 'धर्म समाज', 'वैश्य समाज', 'विद्यार्थी समाज' तथा 'बाल समाज' आदि शब्द का प्रयोग व्यक्ति इसी अर्थ में करते हैं। इनमें से अधिकांश शब्द, जिनके साथ समाज शब्द जोड़ दिया जाता है। समाज न होकर संप्रदाय, वर्ण, सामाजिक श्रेणी, क्षेत्रीय समूह या विशिष्ट भाषा–भाषी समूह है।

उदाहरण यदि कोई व्यक्ति यह कहें कि वह 'ईसाई समाज' का सदस्य है तो यह गलत होगा वह 'ईसाई समाज' का नहीं अपितु 'ईसाई संप्रदाय' का सदस्य है। इसी भाँति 'आर्य समाज' या 'ब्रह्म समाज' समाज न होकर विशिष्ट धार्मिक संप्रदाय है। विद्यार्थी समाज का निर्माण ही नहीं करते अपितु एक सामाजिक श्रेणी का निर्माण करते हैं। कुछ लोग 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के रूप में अथवा एक समिति या संस्था के रूप में भी करते हैं।

समाज विभिन्न सामाजिक संबंधों की व्यवस्था है। ये ऐसे सम्बन्ध हैं जिनसे कि लोग परस्पर जुड़े रहते हैं। सामाजिक संबंधों को देखा नहीं जा सकता; क्योंकि वे अमूर्त होते हैं। समाज की सबसे छोटी इकाई है– परिवार। सामाजिक संगठन, प्राणि जगत् व समाज में परिवार सबसे छोटी इकाई है। परिवार के अभाव में मानव समाज के संचालन की कल्पना भी मुश्किल है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी परिवार का सदस्य है। परिवार किसी भी समुदाय और समाज की एक बुनियादी इकाई है, जो व्यक्ति और समाज के बीच जुड़ने वाली संस्था के रूप में कार्य करता है।

वैदिककाल में समाज को चार वर्गों में विभाजित किया गया था जिन्हें वर्ण कहा जाता है। चार

वर्ण हैं– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुस्मृति के अनुसार चार वर्णों को उनके काम के हिसाब से चार भागों में बाँटा गया है।

भवत्पूर्वे चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्।।[४]

अर्थात् यज्ञोपतीत हुआ ब्राह्मण 'भवत्' शब्द को पहले कहकर, क्षत्रिय 'भवत्' शब्द को मध्य में और वैश्य 'भवत्' शब्द को अंत में कहकर भिक्षा माँगे, अर्थात् ब्राह्मण बोले– '**भवती भिक्षां देहि**', क्षत्रिय बोले– '**भिक्षां भवति देहि**' और वैश्य बोले– '**भिक्षां देहि भवति।**'

यह महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित अठारह पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराण सबसे श्रेष्ठ एवं पवित्र पुराण है। इस पुराण में भगवान् श्रीकृष्ण को अनेक लीलाओं का और कथाओं का सुंदर वर्णन विस्तार से किया गया है। 'श्रीमद्भागवत पुराण' में भगवान् श्रीकृष्ण के ईश्वरीय और अलौकिक रूप का दिव्य वर्णन किया गया है। कथाओं के अलावा इस महापुराण में भगवान् के भक्तों और उनकी मुक्ति की कथाओं का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इस महापुराण में १८ हजार श्लोक, १२ स्कन्ध, ३३५ अध्याय हैं।

श्रीमद्भागवत की कविता में अद्‌भुत चमत्कार हैं, जो सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्द माधुरी तथा अथ चातुरही से हठात् आकृष्ट करता है। भागवत रस तथा माधुर्य का अगाध स्रोत है। नाना परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले मानव हृदय को उद्वेलित करने वाले भावों के चित्रण में भागवत् अद्वितीय काव्य है। हृदय पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कला पक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा तथा द्वारिका का वर्णन जितना कलात्मक है उतना ही नाना भयानक युद्धों का चित्रण स्वाभाविक तथा यथार्थ है। केशी नामक असुर ने अश्व का विकराल रूप धारण कर श्रीकृष्ण को अपने कौशल का परिचय दिया।

केशी तु कंस-प्रहितः खुरैर्मही महा-हयो निर्जरयन् मनो-जवः।
सटावधूताभ्रविमानसंकुलं कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः।।[५]

इसी प्रकार मगध नरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलमङ्कर गदायुद्ध का अतिशय रोमांचकारी चित्रण भागवत में फड़कती भाषा में दिया गया है।

एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः।।[६]

द्वारिका के वर्णन प्रसङ्ग में झरोखों से निकलने वाले अगुरु धूप को देखकर श्याम मेघ की भावना से बतायी– निवासी मत मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है–

रजप्रदीपनिकस्युतिभिर्निरस्त
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमसै-
र्नियन्तिमीक्ष्म धनबुद्धम् उन्नदन्तः।।[७]

दृश्य स्कन्ध के एक समग्र अध्याय में प्रावृट् तथा शरद् ऋतु का यह आध्यात्मिकता मण्डित वर्णन अनुपम चमत्कारी है। वर्षा की घटनाओं से तारित होने पर भी किंचित् मात्र न व्यथित होने वाले पर्वतों की समता उन भगवानिष्ठ भक्तजनों के साथ ही गयी है जो विपत्तियों के द्वारा ताड़ित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होते हैं।

ततः प्रावर्तत प्राप्तट् सर्वसप्तसमुद्भवा।
विद्योतमानपरिधिविस्फूर्जितनभस्तला।।[८]

अर्थात् इसके बाद वर्षा ऋतु का आगमन हुआ। इस ऋतु में सभी प्रकार के प्राणियों की बढ़ोत्तरी हो जाती है। उस समय सूर्य और चन्द्रमा पर बार-बार प्रकाशमय मण्डल बैठने लगे। बादल, वायु, चमक, कड़क आदि से आकाश क्षुब्ध सा दिखने लगा।

भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश है। गोपियों की श्रीकृष्ण चर के प्रति ललित प्रेम लीला का रुधिर चित्रण। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करने वाली भगवनिष्ठ प्रेमिकाएँ ठहरीं।

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगावतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः।।[९]

यह प्रसङ्ग जहाँ वक्ता अपने हृदय की अन्तरतम गुहा में कल्लोलित भागों की अभिव्यक्ति करता है। वे 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतों का प्राचुर्य दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। वेणुगीत, गोपीगीत, युगल गीत, महर्षि गीत, भ्रमर गीत, भागवत के ऐसे ललित प्रसङ्ग हैं, जिनमें कवि की वाणी अपनी भव्य माधुर्य प्रदर्शित कर रसिकों के हृदय में उस मनोरम रस की सृष्टि करती है, जिसे आलोचक 'भागवत रस' के नाम से पुकारते हैं। कृष्ण के विरह में व्याकुल महिषी जनों का यह उपालम्भ कितना मीठा है।

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे,
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कश्चित्गाढनिर्विद्धचेता,
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ।।[१०]

हे कुररि! संसार में सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्ड बोध छिपाकर सो रहे हैं। परन्तु मुझे नींद नहीं? सखी कमलनयन भगवान् के मधुर हास्य और लीलाभरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह बिंध तो नहीं गया है?

वेणु गीत (भागवत १०.२१) में कृष्ण के मुरली वादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जङ्गम प्राणियों के ही ऊपर नहीं है। प्रत्युत् स्थावर जगत् में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियों का वेणुगी को आकर्षण का यह आचरण जितना

मधुर है उतना ही स्वाभाविक है।

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे ।
गृह्णन्ति पाद्युगलं कमलोपहाराः।।[११]

रास पञ्चाध्यायी भागवत् का हृदय है, जिसमें व्यास जी ने कृष्ण और गोपियों के बीच रासलीला का सुमधुर वर्णन किया है। इसका आध्यात्मिक महत्त्व जितना अधिक है, साहित्यिक गौरव भी उतना ही विपुल है। गोपियों ने श्रीकृष्ण के अन्तर्ध्यान होने पर अपने भक्तों की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दों में की है, वह नितान्त रुचिर तथा सरस है। गोपीगीत का यह पद्य कितना सरस तथा सरल है।

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि घृणन्ति ते भूरिदा जनाः।।[१२]

अर्थात् आपकी कथा अमृत है; क्योंकि वह सन्तप्त प्राणियों को जीवन देती है। ब्रह्मज्ञानियों ने भी देव भोग्य अमृत को तुच्छ समझकर उसकी प्रशंसा की है। वह सब पापों को हरने वाली है अर्थात् काव्य कर्म का निरास करने वाली है। श्रवणमात्र से मंगल कारिणी और अत्यन्त शान्त है। ऐसे तुम्हारे कथामृत को विस्तार के साथ जो पुरुष गाते हैं। उन्होंने पूर्व जन्म में बहुत दान किए हैं। वे बड़े पुण्यात्मा है। भ्रमरगीत भागवत् का एक मार्मिक हृदयावर्जक गीतिकाव्य है जिसकी प्रेरणा प्राप्त कर सैकड़ों भ्रमरगीत हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में निबन्ध होकर रसिकों को आज भी हृदयावर्जन करते हैं। भ्रमरगीत में केवल १० ही श्लोक हैं, परन्तु इनके भीतर गम्भीर रस का परिपाक काव्यशरीकों के चित्र को बलात् आकृष्ट करता है। इसमें उपालम्भी की भावना ही प्रामुख्येन अभिव्यक्त की गयी है। भ्रमर गीत के गाम्भीर्य की माया साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से भागवत् के टीकाकारों ने बड़ी मार्मिकता के साथ की है। श्रीकृष्ण के ऊपर गम्भीर आरोप के प्रसङ्ग में गोपियाँ कहती हैं।

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्मधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयत् ध्वाङ्क्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः।।[१३]

हम कह सकते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराण कृष्ण भक्ति का वर्ण्य-विषय है। श्रीमद्भागवत पुराण में बालकृष्ण की माधुर्य गर्भित ललित लीलाएँ हैं। वैष्णवधर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय

साहित्य, सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्साह है, जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है, श्रीमद्भागवत पुराण जीवन सरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करने वाला मानसरोवर है। वात्सल्य तथा शृङ्गार की नाना अभिव्यक्तियों चारु-चित्रण से ध्यान साहित्य जितना सरस तथा रस से भरा है, इतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है। भक्त हृदय को नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से कृष्ण काव्यों को रचना का श्रेय श्रीमद्भागवत को देना चाहिए।

निष्कर्षतः पुराणों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व के विषय में विशेष रूप से वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में भारतीय समाज की व्यवस्था बहुत सुन्दर रूप से चित्रण किया गया है। सुन्दर समाज बनाने की अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है। सामाजिक जीवन के लिए वर्णाश्रम के गुण, कर्म, विविध संस्कार, पारिवारिक, सम्बन्ध, राजधर्म, स्त्रीधर्म, गुरु-शिष्य के बीच सम्बन्ध इत्यादि के नियम हैं।

पुराण पूरे समाज के लिए पुराण आधार संहिता प्रदान करते हैं। किसी देवता या देवी की उपासना का विधान बताकर उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति पर पुराणों में बल दिया गया। पुराणों की सर्वोपरि महत्ता आस्तिकवाद के समर्थन के कारण है। उनमें अनेक देवताओं का वर्णन है। सभी देवताओं की समानता की घोषणा करने पर भी एक देवता की महत्ता दिखाना सभी पुराणों का लक्ष्य रहा है। विशेष रूप से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश तथा सूर्य की उपासना पद्धतियों का प्रामाणिक बोध से होता है। इन्हीं के आधार पर परवर्ती कर्मकाण्ड ग्रन्थों का विकास हुआ है। हिन्दू संस्कृति की सर्वाधिक स्पष्ट रूपरेखा पुराणों में अंकित है।

श्रीमद्भागवत ही अष्टादश पुराणों में अनन्यतम है तथा देवीभागवत केवल उपपुराण है, जो श्रीमद्भागवत से पूर्ण परिचय ही नहीं रखता, श्रीमद्भागवत पुरण पञ्चलक्षण के वृहद् रूप दस लक्षणों से समन्वित एक महनीय आध्यात्मिक पुराण है, जिसमें भूगोल तथा खगोल, वंश और वंशानुचरित का भी विवरण संक्षेप में उपस्थित किया गया है। श्रीकृष्ण को भगवान् रूप में चित्रित करने तथा उनकी ललित लीलाओं का विवरण देने में भागवत अद्वितीय पुराण है।

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

१. मत्स्यपुराण, ५३.६५
२. श्रीमद्भागवतपुराण, १२.७.९
३. श्रीमद्भागवतपुराण, २.१०.१
४. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.२०.३
५. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.३७.१
६. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.७२.३०
७. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.६९.१२
८. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.४७.१७
९. श्रीमद्भागवतपुराण, १२.७.९
१०. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.९०.१५
११. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.२१.१५
१२. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.२१.९
१३. श्रीमद्भागवतपुराण, १०.४७.१७

शोध नवनीत शोध पत्रिका के सामान्य नियम

- शोध-नवनीत शोध पत्रिका के सम्पादक, समीक्षक आदि समस्त पद अवैतनिक हैं।
- शोध-नवनीत शोध पत्रिका देश-विदेश के विद्यार्थियों, शोधच्छात्रों, शिक्षाविदों तथा विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों के शोध प्रक्रिया आधारित गुणवत्तापरक, ज्ञानपूर्ण एवं स्तरीय शोधपत्रों/शोधलेखों को नि:शुल्क प्रकाशन के लिए आमंत्रित करता है।
- सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति द्वारा चयनित शोधपत्रों/शोधलेखों को ही प्रकाशित किया जायेगा; किन्तु इसकी सामग्री के प्रति जवाबदेही इसके लेखकों की होगी। शोधपत्र/शोधलेख मौलिक या पाण्डुलिपि से सम्बन्धित होना चाहिए। लेखकों के मत से सम्पादक मण्डल की सहमति अनिवार्य नहीं है, किन्तु किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के विरुद्ध लेखों के प्रकाशन के लिए न विचार किया जायेगा और न ही प्रकाशित किया जायेगा।
- सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक आदि के द्वारा अस्वीकृत शोधपत्रों/शोधलेखों को उनके लेखकों को वापस नहीं किया जायेगा। इसलिए लेखक अपने पास इसकी एक प्रति सुरक्षित रखें। शोधपत्रों/शोधलेखों की सामग्री अनुचित या विवादित होने की स्थिति में सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा। सम्पादक/सम्पादक मण्डल आदि द्वारा शोधपत्रों/शोधलेखों के पाण्डुलिपि आदि में कुछ परिवर्तन करके प्रकाशित किया जा सकता है।
- शोध-नवनीत में प्रकाशित शोधपत्रों/शोधलेखों को देश-विदेश के विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, शोध-संस्थान आदि के द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत किये जाने पर प्रकाशक, सम्पादक, सम्पादक मण्डल, मुद्रक आदि की कोई जिम्मेदारी नहीं होगी।
- अगला अंक प्रकाशित होने के बाद पहले के अंकों की सामग्री का दुरुपयोग न हो इसलिए नष्ट कर दिया जायेगा। सी.डी./ई-मेल से प्राप्त लेखों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जायेगा।
- शोध-नवनीत से सम्बन्धित विवाद के किसी भी निर्णय के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद ही मान्य होगा।
- लेखक शोध प्रक्रिया आधारित शोधपत्रों/शोधलेखों को 5 से 7 पृष्ठों (2000-3000 शब्दों) में Unicode (Mangal), Kruti Dev-10 (size 16)/Times New roman (Size-14) में संस्कृत/अंग्रेजी/हिन्दी भाषा में टंकित कराकर सी.डी. (हार्ड कॉपी सहित)/ई-मेल के माध्यम से नाम, पता, मोबाइल नं. ई-मेल सहित भेजें।
- **शोधपत्र में लगभग 150 शब्दों के शोधसार एवं मुख्य शब्द सहित सन्दर्भ अन्त में होना चाहिए।**
- शोधपत्र में सन्दर्भ, लेखक, पुस्तक, व्याख्याकार का नाम, प्रकाशक, प्रकाशन का स्थान, प्रकाशन वर्ष और पेज संख्या आदि सहित होना चाहिए।

सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920

ई-संङ्केत : **shodhnavneet@gmail.com**

ISSN 2321-6581

अक्षर संयोजन एवं मुद्रक : **प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स**, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद